'साहित्य-मण्डल' की सातवीं पुस्तक—

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र

लेखक—

श्रीमान् चम्पतराय जैन,

विद्या-वारिधि, बार-एट्-लॉ

अनुवादक—

बाबू कामताप्रसाद जैन

प्रकाशक—

साहित्य-मंडल

दिल्ली।

मूल्य ॥।)

प्रकाशक—
ऋषभचरण जैन,
मालिक—साहित्य-मंडल
बाजार सीताराम, दिल्ली।

पहली बार

जनवरी, १९३७

मुद्रक—
बाबू वृजलाल गुप्त,
मालिक—चन्द्रगुप्त प्रेस,
चावड़ी बाजार, देहली।

प्रकाशक के शब्द

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री० चम्पतरायजी जैन, विद्या-वारिधि की अंग्रेजी-रचना Faith, Knowledge and Conduct का हिन्दी अनुवाद है। बैरिस्टर साहब उन महापुरुषों में से हैं जिन्होंने सत्य-धर्म और ज्ञान के प्रचार के लिये अतुल परिश्रम किया है। जिन लोगों को आप से मिलने का मौका मिला है, वे आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य, और गहन अध्ययन के कायल हैं। आपने अंग्रेजी-भाषा में अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ रत्नों की रचना की है, जिनमें से Key of Knowledge-नामक पुस्तक संसार की श्रेष्ठ दार्शनिक-रचनाओं में गिनी जाती है। सार्वजनिक जीवन में जान-बूझकर प्रवेश न करने, और मौन-सेवा (silent service) को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य बनाने के कारण सर्व-साधारण में बैरिस्टर साहब का नाम उतना प्रचलित नहीं है, जितना होना चाहिये, फिर भी, जो लोग दर्शन, मनोविज्ञान और तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन में अनुराग रखते हैं, उन्होंने अनेक अवसरों पर आपका गुण-गान किया है।

बैरिस्टर साहब ने अपने समस्त ग्रन्थों में जैन धर्म की महानता का प्रतिपादन किया है। व स्वय जैन-कुल मे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनकी इस धारणा को पक्षपात पूर्ण समझा जा सकता है। परन्तु बात इसके प्रतिकूल है। एक समय था, जब आपको जैन धर्म के सिद्धान्तों पर घोर शङ्का थी, और और आप पक्के जड-वादी (Materialist) थे। परन्तु जब आपने ध्यानपूर्वक भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन किया, और खुले दिमाग से मनन किया, तो आपको जैन धर्म की महानता और सत्यता स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा दिखाई न दिया।

जो लोग सत्य ज्ञान की खोज करने के इच्छुक हैं, और पक्षपात-शून्य होकर उसके प्रकाश मे अपना भविष्य स्थिर करना चाहते हैं, हम उनसे विनय करेंगे, कि वे एक बार बैरिस्टर साहब के ग्रन्थों का अध्ययन कर जायें। अग्रेजी भाषा में उनके सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, कुछ के हिन्दी और उर्दू अनुवाद भी हो चुके हैं। हम शेष पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करने के प्रयत्न मे हैं। बैरिस्टर साहब की पुस्तकों को पढने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को सब से पहिले प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये, इसीलिये सब से पहिले इसका

प्रकाशन किया गया है। यदि पाठकों ने हमे उत्साह दिलाया, तो हम शीघ्र ही इस माला की अन्य पुस्तकें लेकर उपस्थित होंगे।

इस पुस्तक में आत्मा का अस्तित्व और उसकी अमरता सिद्ध करने मे वैरिस्टर साहब ने जैसी विद्वत्ता का परिचय दिया है, कोई भी दार्शनिक विद्वान् उसकी महत्ता स्वीकार किये बिना न रहेगा। साथ ही जैनियों के जटिल 'स्याद्वाद'-तत्त्व का बेहद सरल और सुन्दर विवेचन भी पाठकों का एक नई और अनोखी बात बतायेगा।

एक बात अनुवाद के विषय म और कहनी है। हमे खेद है, कि अनुवाद सन्तोष-जनक न हो सका। फिर भी स्वय वैरिस्टर साहब की सहायता उपलब्ध होने के कारण उस में बहुत-कुछ संशोधन करा लिया गया है, और भाषा को सरल, प्रवाह-पूर्ण और बा मुहावरा बना दिया गया है। आशा है, साधारण पाठक को भी इसे समझने मे अधिक कठिनाई न होगी।

ऋषभचरण जैन

भूमिका

(लेखक—श्रीयुत सुकुमार चटर्जी महोदय)

ज्ञान, श्रद्धा और आचरण—तीनों अभिन्न पदार्थ हैं। बिना ज्ञान के श्रद्धा और बिना श्रद्धा के ज्ञान का होना, और बिना ज्ञान और श्रद्धा के आचरण को मुक्ति-पथ पर लेजाना असम्भव है। लेखक-महोदय की इस, और अन्य पुस्तकों में समन्वय-तत्व का पूर्ण विकास पाया जाता है, जो प्राय बड़े से बड़े लेखकों में नहीं रहता।

प्रत्येक धर्म में, प्रत्येक मत-मतान्तर में, अथवा उनकी शाखा प्रशाखाओं में, एक सम-स्वर रहता है। लेखक-महोदय ने अपना समस्त जीवन इसी सम-स्वर के अन्वेषण में समर्पित किया है, और जाति, समाज, राष्ट्र, सभ्यता, भाषा, देश-आदि के विभिन्न ताल-बेतालों में से 'सम' को खोज निकालने में जो सफलता आपको मिली है, हम साहस के साथ कह सकते हैं, कि वह इने-गिने लेखकों को ही मिली है।

आपकी इस सफलता का सब से बड़ा कारण यह है, कि आपने निष्पक्ष भाव से सत्य ज्ञान की खोज की है। इस खोज के फल-स्वरूप आप क्रमश —जड़वादी, और चैतन्य

का उपहास करनेवाले की जगह दार्शनिक, वैज्ञानिक, विभिन्नता में एकता खोजनेवाले, संघर्ष में शांति दिखाने-वाले, माया में मोक्ष की छाया उपलब्ध करनेवाले, और महा-त्यागी बन गये।

इस पुस्तक में पदार्थ-विज्ञान (Physics) के आलोक-रश्मि के सूत्र (Laws of the reflection of Light) के आधार पर, अद्भुत, मौलिक, अभूतपूर्व और अकाट्य प्रमाणों के सहारे मन, ज्ञान और आत्मा का अमरत्व सिद्ध किया गया है। संसार के दर्शन-विज्ञान के इतिहास में यह एक नई बात है।

मेरे जैसे अल्प लेखक की पुस्तक की भूमिका लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है, परन्तु सूर्य देवता की भी आरती की जाती है, इसीलिये यह साहस किया गया है।

यूनान की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार 'जलाओ दर्शनों के पुस्तकालय, क्योंकि उन सब का मूल्य इस पुस्तक में है'—प्रस्तुत पुस्तक के विषय में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी।

सम्यक्-दर्शन (श्रद्धा)

सम्यक्-दर्शन का श्रद्धान है —

(अ) १—भगवान अर्हन्त सच्चे देव हैं,

२—अर्हन्त का वचन सच्चा शास्त्र है,

३—निर्ग्रन्थ (जैन-साधु) सच्चे गुरु हैं।

(ब) १—आत्मा अपने असली स्वरूप में परमात्मा है, जो जिन-प्रणीत मार्ग पर चलकर परमात्मा बन जाता है,

२—सात बड़े तत्व हैं, जिनके कारण अनन्त पुरुष परमात्मपन की पूर्णता और विभूति को प्राप्त कर चुके हैं,

३—सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र मिलकर—अलग अलग नहीं—आत्मा के उद्देश्य की सिद्धि के कारण हैं,

(ख) १—सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का चतुर्विध संघ है, जिस में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सम्मिलित हैं,

२—मार्ग दो प्रकार का है (१) साधुओं का ऊपरी और कठिन मार्ग (२) तथा प्रारम्भिक और आरम्भिक मार्ग, जो उन पुण्यात्माओं के लिये है, जो अभी साधुपद को प्राप्त करने की शक्ति नहीं रखते हैं,

३—और—साधु का मार्ग पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पांच समिति, और तीन गुप्ति-रूप है, और गृहस्थ का मार्ग १२ व्रत और सल्लेखना को धारण करना है।

सम्यक्-ज्ञान।

भाग प्रथम—अन्वेषण का तरीका।

१ निक्षेप।

निक्षेप किसी वस्तु के नामकरण को कहते हैं, जो केवल व्यवहार की सुगमता के लिये रक्खा जाता है। शब्दों से भाषा बनती है, और भाषा के द्वारा ही यह सम्भव है कि हम एक-दूसरे के साथ सहूलियत से बातचीत कर सकें। भाषा के अभाव में किसी भी सभ्यता का होना असम्भव है।

संज्ञायें (Nouns) वस्तुओं के नाम हैं। उनसे हमें एक लम्बे-चौड़े वर्णन् को संक्षेपत केवल एक ध्वनि में परिणत करने की योग्यता प्राप्त है। यदि कभी हमें किसी वस्तु का उल्लेख करने का अवसर मिले और प्रत्येक ऐसे अवसर पर

हमें उसका पूरा-पूरा वर्णन् करना पड़े, तो यह क्रिया बड़ी बेहूदी होगी, और इससे गड़बड़ होना असम्भव न होगा। नामकरण के द्वारा यह कठिनाई सहज में दूर होजाती है। अत वे सब प्राणी, जो बोल सकते हैं, मनुष्यों, स्थानों और वस्तुओं के नाम-रूप में शब्दों का व्यवहार करते हैं।

लोग वस्तुओं के नाम चार प्रकार से रखते हैं —

(१) नाम-निक्षेप—जैसे किसी मनुष्य को वुल्फ (Wolf=भेड़िया) आदि कहना।

(२) स्थापना-निक्षेप—वस्तु के स्वाभाविक अथवा काल्पनिक गुणों को लक्ष्य करके कहना, जैसे, संस्कृत पाषाण को नलमन की मूर्ति कहना, और शतरञ्ज के मोहरों को राजा और वज़ीर बताना।

(३) द्रव्य-निक्षेप—वस्तु का भावी शक्ति को लक्ष्य करके उल्लेख करना, जैसे एक राजकुमार को राजा और डाक्टरी के विद्यार्थी को डाक्टर कहना।

(४) भाव-निक्षेप—वस्तु के कार्य के अनुसार नामोल्लेख करना, जैसे पूजा करनेवाले व्यक्ति को पुजारी कहना।

यदि भाषा के भाव का समझने में कठिनाई हो, तो निक्षेप के विशेष्य का उल्लेख करने में बहुत सहायता मिलेगी। उदाहरण के रूप में यह वाक्य 'राजा पकड़ा गया' संशयात्मक है। इसका अर्थ वास्तविक राजा का पकड़ा

जाना, और शतरञ्ज में राजा का पकड़ा जाना भी हो सकता है। अब यदि इस वाक्य के साथ इस बात का ज़िक्र कर दिया जाय कि शब्द 'राजा' कौन-से निक्षेप, नाम निक्षेप या स्थापना-निक्षेप, की अपेक्षा रखता है, तो यह झंझट दूर होजाय और भाषा का अर्थ बिल्कुल साफ़ बन जाय। बस, निक्षेप का यही महत्व है।

२ श्रेणी-बद्धता।

वस्तुओं के विशेष चिन्हों के आधार से श्रेणी-बद्धता (classification) होती है। चिन्ह

(१) श्रेणी के सभी सदस्यों में मौजूद होना चाहिये, जैसे पक्षियों में पर,

(२) श्रेणी के बाहर नहीं मिलना चाहिये, और

(३) असम्भव न होना चाहिये।

यदि श्रेणी-बद्धता ठीक-ठीक न होगी, तो अन्त में यह हर तरह की कठिनाइयों में हम को डाल देगी। यदि हम मनुष्य को दो पैरवाला जानवर कहें, तो हमें शुतरमुर्ग को भी मनुष्य कहना होगा। यदि हम दाढ़ी को मानव-समाज का विशेष चिन्ह स्वीकार करें, तो स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे इस श्रेणी में नहीं आ सकेंगे। और इससे भी जीवन का कोई कार्य न सधेगा, यदि सींगों को मनुष्य-जाति का खास चिन्ह प्रकट किया जाय।

३ नयवाद।

वस्तुओं में अनेक अपवाद देखने को मिलती हैं। उदाहरणतः सामान्य गुणों के साथ-साथ वस्तुओं में विशेष गुण भी मिलते हैं। साधारण और विशेष गुण अलग-अलग हम कभी नहीं मिलते। सामान्य उदाहरण के तौर पर आम के पेड़ को ले लीजिए। उसमें ऐसे बहुत-से गुण हैं, जो दूसरी जाति के पेड़ों में भी हैं और उनके साथ ही उसमें ऐसे खास गुण भी हैं, जो उनसे अलग अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। किन्तु भाषा के लिये यह सम्भव नहीं है, कि उसके द्वारा एक वस्तु के समस्त गुणों का एक-साथ, एक समय में ही कहा जा सके। क्योंकि भाषा शब्दों की बनी हुई है, और शब्द वस्तुओं के एक एक गुणों को प्रकट करने में समर्थ हैं, और वह परिमित रूप (limited sense) में ही व्यवहृत किये जा सकते हैं। उदाहरणतः शब्द 'आम' साधारणतया उन गुणों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है, जिनके कारण आम अन्य पेड़ों से विभिन्न प्रकट होता है।

मनुष्यों की रोजमर्रा की भाषा में शब्दों के व्यवहार में सात खास अपेक्षायें (नय) काम करती हुई मिलती हैं। वे हैं —

(१) एक काल्पनिक या मिश्रित भाव में, अर्थात् एक

घटना का वर्णन् किसी भूत या भविष्यत घटना के अनुसार करना, जैसे यह कहना कि 'आज अंतिम तीर्थङ्कर महावीरजी का निर्वाण-दिवस है।' (किन्तु वस्तुत महावीरजी ने आज से २५०० वर्ष स अधिक पहल निर्वाण प्राप्त किया था।)

(२) एक जाति या वर्ग या श्रेणी के भाव मे, जैसे कहना *'आत्मा परमात्मा रूप है।' यहाँ सारी श्रेणी का उल्लेख* हुआ है, न कि किसी खास व्यक्ति का।

(३) किसी एक खास व्यक्ति की अपेक्षा, जैसे 'रामप्रसाद बहुत होशियार है।'

(४) एक पदार्थ के पर्याय की अपेक्षा से—द्रव्य की अपेक्षा को छोड़कर। जैसे 'घर नष्ट कर दिया गया है'—इस वाक्य मे यह स्पष्ट है कि घर की सामग्री (material) नष्ट नहीं की गई है—केवल उसकी पर्याय नष्ट हो गयी है।

(५) व्याकरण के भाव मे—जहाँ व्याकरण और कोष के नियमो के अनुसार शब्दों का भाव लगाया जाय। उदाहरण के रूप में यह वाक्य लीजिये कि 'सूरज पूर्व म उगता है।' इस मे 'सूरज' साधारण भाव में व्यवहृत हुआ है।

(६) अलङ्कार या खास भाव में जैसे—कि 'सूर्य देवताओं में अग्रणी है।' यहाँ 'सूर्य' केवल ज्ञान का चिन्ह है और 'देवता' एक शुद्धात्मा के आत्मिक गुणों के द्योतक हैं।

(७) किसी व्यक्ति के कार्य विशेष की अपेक्षा ,जैसे इस वाक्य में कि 'क्या मैं डाक्टर को बुलाऊँ ?' यहाँ 'डाक्टर' से मतलब उस समुदाय के एक सदस्य से है, जो डाक्टरी करता है। भाव-निक्षेप और इस नय के रूप में यह भेद है कि भाव-निक्षेप में तो 'डाक्टर'-शब्द का व्यवहार नाम-रूप में हुआ है, किन्तु इस नय में यह एक व्यक्ति अथवा एक समुदाय के विवरण-रूप में है।

शब्दों के व्यवहार में उनके खास भावों और अर्थों को इन नयों के सम्बन्ध में भुला देने से बड़ी भद्दी भूलें हो जाती हैं और नय उनका ठीक-ठीक व्यवहार किये बिना ही नतीजा निकाल लिया जाता है, तो विचार में सख्त दिक्कत पड़ जाती है। इन नयों के सम्बन्ध में खास प्रकार की भूलों के नमूने हम यहाँ उपस्थित करते हैं —

(१) पहली नय की यह बड़ी भूल होगी, यदि हम पूर्वोक्त कथन से यह भाव निकाल लें कि सचमुच महावीर जी ने आज ही मुक्ति पाई है।

(२) दूसरी नय के विषय में इस वाक्य के सम्बन्ध में कि 'आत्मा स्वभाव से परमात्मा-रूप है' यह कहना मिथ्या होगा कि प्रत्येक अमुक्त आत्मा प्रकट रूप में परमात्म-स्वरूप है।

(३) तीसरी नय में एक व्यक्ति को जाति में परिणत कर देना

और एक ही उदाहरण से सर्व-व्यापी नतीजा निकाल लेना भूल होगा।

(४) चौथी नय के सम्बन्ध में यह भुला देना घातक होगा कि वस्तुओं का एक आधार है, और यह मान लेना कि एक घर के नाश होने का मतलब पार्थिव सामग्री का सर्वथा नष्ट होजाना है।

(५) पाँचवीं नय के विषय में यह न भुला देना चाहिये कि जब शब्दों का व्यवहार साधारण रूप में हुआ हो, तब उनका अलङ्कारिक अर्थ नहीं लगाना चाहिये। 'सूर्य पूर्व में उगता है'—इस सीधे-से वाक्य का गूढार्थ ढूँढना इसी प्रकार की गलती होगी।

(६) छठी नय अलङ्कार के भाव से सम्बन्ध रखती है। शब्दों को अलङ्कृत रूप में ग्रहण न करके शब्दार्थ में ले लेना तर्क का गला घोटना होगा। इसी तरह अलङ्कार के रूपक को ऐतिहासिक घटना मानना भयानक होगा। सही तरीके से वही सम्यक्-दर्शन का पोषक होगा, अन्यथा नाश की ओर ले दौड़ेगा।

(७) सातवीं और अंतिम नय के विषय में यह कहना अनुचित होगा कि एक डाक्टर हर समय डाक्टर के सिवाय और कुछ नहीं है।

जैन-सिद्धान्त में हमें ऐसी गलतियों से पहले ही

आगाह कर दिया गया है, क्योंकि सैद्धान्तिक खोज और सत्य के निर्णय म विचार का ठीक ठीक निश्चय होना जरूरी है। यदि अन्वेषक अपने कार्य के श्रीगणेश म ही इस चेतावनी का ध्यान न रक्खेगा और अपने को भयावह क्षेत्र म भटकने देगा, तो उसे कुछ भी लाभदायक वस्तु हाथ न लगेगी।

४-अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद वह विचार क्रम है, जो एकान्त पक्षीय परिणामों से सतुष्ट नहीं होता। जब तक किसी पदार्थ का सब अपेक्षाओं से अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक उसका ज्ञान अधूरा रहेगा और वह गलत रास्ते पर भी ले जा सकगा।

मुख्यत पदार्थ का उसके निजी द्रव्य-रूप म जानना जरूरी है, साथ-ही उस पर्याय में भी जिस म कि वह अन्वेषण के लिये मिल रहा है।

५-स्याद्वाद।

मानवी भाषा बड़ा भ्रमोत्पादक हो जायगी, यदि आरम्भ से ही गलतफहमी को बचाने की कोशिश न की जायगी।

यह कहना कि 'अ' 'ब' है, और 'अ' 'ब' नहीं है, तथापि साथ ही यह भी कहना कि एकदम 'अ' 'ब' है और

'व' नही है, अविज्ञ पाठक को बडे झमेले में डाल देगा। जाहिरा ये वाक्य एक दूसरे के विरोधी दिखते है, किन्तु वास्तव में विरोधी नहीं भी हो सकते हैं। अब हमें यह देखना चाहिये, इसमे से कोई भाव ग्रहण करना भी सभव है, या नही। मान लो 'अ' से मतलब कुचले का है और 'व' जहर का द्योतक है। अब यह अनुमान करलो कि उक्त वाक्य का साराश इस प्रकार है —

'कुचला' जहर है (जब बडी मिकदार मे लिया जाय) (कम मिकदार में) वह जहर नही है (दवाइयो मे), और वह एक साथ ही दोनों, अर्थात जहर है और जहर नहीं भी है (जब कि मिकदार की अपेक्षा को ध्यान में न रखा जावे)।

इस तरह पर पढने से विरोध बिल्कुल दूर हो जाता है। और कुचले के स्वभाव के विषय में एक बडी उपयोगी बात मालूम हो जाती है।

जैन सिद्धान्तवादी 'तीर्थङ्कर' की वाणी के विषय मे जाहिरा विरोध को देखकर भटक जाने से हमें आगाह कर देते हैं, क्योंकि वह वाणी वास्तव में न तो विरोध लिये हुए है, और न गलत ही है। कचहरियों में झूठे गवाहो के वक्तव्य की तरह कहां वास्तविक विरोध भी हो सकता है, किन्तु दिव्य-शिक्षक तीर्थङ्कर की वाणी में ऐसा वास्तविक विरोध कभी नहीं होता है। जो जाहिरा उनकी वाणी में

विरोध-सा देखकर उससे मुँह मोड़ लेते हैं, वह सत्य से हाथ धो लेते हैं। उनके लिये एकान्त मन्तव्यों पर विश्वास कर लेना लाजमी हो जाता है, जो भयावह है। उदाहरणत जो व्यक्ति कुचले को बिल्कुल ही जहर मानने को तैयार नहीं है, वह किसी न किसी रोज अपनी इस बेवकूफी का मोल अपने अमोल प्राणों को गँवाकर चुकायेगा।

मानवी भाषा का मतलब किसी वस्तु के विषय में कुछ कहना है। विरोध की दृष्टि से हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में तीन प्रकार के कथन कर सकते हैं —

'अ' 'ब' है।

'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

इन तीनों को ही विविध रूप में मिलाने से हमें चार और विरोधात्मक कथन मिलते हैं, अर्थात —

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' नहीं है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

यही सात रूप 'सप्तभङ्गी' सिद्धान्त है। इनमें से पहले

तीन रूप तो अपने निजी स्वरूप में असयुक्त हैं। वे और शेष चारों संयुक्त परस्पर-विरोधी हो सकते हैं। और संयुक्त-कथन अपने ही अर्थ में।

जैन-सिद्धान्तवादी ऐसे प्रत्येक कथन के आगे 'स्यात्' शब्द को जोड देने की सम्मति देते हैं, जिस से कि बुद्धि, उनके मूल-भाव और अपेक्षा-दृष्टि को सुगमता से पहचान सके। इस दशा में यह कथन यों पढ़े जायेंगे — स्यात् 'अ' 'ब' है, स्यात् 'अ' 'ब' नहीं है, इत्यादि। इस क्रम से व्यक्ति का ध्यान कथन की उस खास अपेक्षा की ओर स्वत आकृष्ट हो जायगा, जिस अपेक्षा से वह कहा गया है। यदि तीर्थङ्कर भगवान की वाणी के अध्ययन में यह ध्यान में नहीं रखा जायगा, तो श्रम व्यर्थ और भयानक होगा।

सप्तभङ्गी सिद्धान्त की उत्पत्ति पदार्थों के स्वभाव की सभी सम्भव अपेक्षाओं अथवा दृष्टिकोणों द्वारा ठीक-ठीक खोज की आवश्यकता पर अवलम्बित है। इस क्रम में यह स्वाभाविक है कि जाहिरा दिखावटी परन्तु अवास्तविक-विरोधात्मक कथन किये जाँय। जैन-सिद्धान्त इसी कारण 'स्याद्वाद' कहलाता है कि वह अनेकान्त रूप में पदार्थों का अन्वेषण करता है, और परस्पर विरोध के मेटनेवाले चार्ट (नक्शे)—'अ' 'ब' है और 'अ' 'ब' नहीं है, इत्यादि को अपनाये हुये है।

यह याद रहे कि वास्तविक विरोध के लिये एक पदार्थ का अस्तित्व और निषेध एक ही दृष्टिकोण से होना लाजमी है। किन्तु स्याद्वाद में यह बात नहीं है—उसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से कथन किया हुआ मिलता है। अत वह विरोधात्मक नहीं है।

६—न्याय

विविध प्रकार के मनुष्य अपनी पथ प्रदर्शिता के लिये तीन प्रकार के न्याय सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। मन्द बुद्धि के आदमी केवल सम्भव बातों से सन्तुष्ट हो जाते हैं। कचहरी में बैठा हुआ जज सम्भव का अस्वीकार करके अनुमानत (probable) के माप को मानता है। किन्तु तत्व-वत्ता इन दोनों को नहीं मानता, वह अटल निश्चय (certain) के आधार पर अपनी इमारत खडी करता है। यह अटल निश्चय न्याय द्वारा मिलता है, जो दो प्रकार का है-(१) inductive (२) deductive* यहाँ हम केवल deductive न्याय से

---

* जिस विद्या द्वारा प्रकृति के नियम निश्चय प्रकार से जाने जाते हैं, उसको inductive logic (इण्डक्टिव लाजिक) कहते हैं। और जब इण्डक्टिव लाजिक द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान की सिद्धि की जाय तो उसे deductive (डिडक्टिव) लाजिक कहते हैं। दूसरे शब्दों में इण्डक्टिव तर्क है, और डिडक्टिव अनुमान।

सम्बन्ध रक्खेंगे। क्योंकि inductive-न्याय के लिये प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। इस प्रकार से हम पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान और प्रकृति में घटित होनेवाली घटनाओं के यथार्थ कारणों को जान सकेंगे।

Deductive-न्याय प्राकृतिक वैज्ञानिक नियमों के आधार पर चलता है। अटल वैज्ञानिक नियमों के बल पर अनुमान सिद्ध किये जाते हैं जो हर हालत में सत्य ही साबित होते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि deductive-न्याय के पारिभाषिक विषयों से स्मरण-शक्ति के भार को बढ़ाया जाय। एक साधारण नियम इस न्याय की सिद्धि और प्रकृति से मिला रखने के लिये पर्याप्त है। अरस्तू का न्याय इन में अन्तिम ध्येय की पूर्ति नहीं करता। हाँ, उसमें पहली बात की पूर्ति हो जाती है। उसका सम्बन्ध कथन में अनुकूलता उपस्थित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसके आधार से निकले हुए परिणाम उपस्थित करने के कायदे और अनुकूलता के अनुसार होंगे, किन्तु वास्तव में भी वह सत्य हैं, या नहीं, यह उसके वश की बात नहीं है। सचमुच वे सही होंगे, यदि उनके आधार ठीक-ठीक होंगे, जिन पर परिणाम अवलम्बित हैं। किन्तु अरस्तू के न्याय में उन आधारों की वास्तविक सत्यता की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता

न्याय का एक ही नियम, जिसके ऊपर कोई न्यायवेत्ता अपनी कीर्ति का दाँव लगा सकता है यह है, कि जब कोई स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम मिल, ता उसे अपने अनुमान का आधार बना सकते हैं। ऐसे नियम के होते हुए भी यदि उस से विपरीत निर्णय किया जायगा, तो निस्सन्देह वह परिणाम गलत होगा। यदि इस विषय मे पक्ष या विपक्ष में कोई नियम न हो और आधार-रहित कोई कथन किया जाय, तो वह कोरा अटक्ल पच्चू का दाँव होगा और इसलिये सर्वथा अविश्वसनीय होगा।

उदाहरण क रूप म प्रकृति का यह एक स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम है, कि मनुष्य छोटे पैदा होते हैं और फिर वे बढ़ते हैं। अब यदि कोई यह कहे कि वह हजार वर्ष की उम्र का जन्मा था और अब वह दिन-ब-दिन कम उम्र का होता जा रहा है, तो उसका यह कथन प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, और इसलिये असत्य होना चाहिये।

इसी तरह यह बात कोरी अटकल-पच्चू होगी कि अमुक व्यक्ति अपनी उम्र के ५० वें वर्ष मे इतना रुपया कमा लेगा, क्योंकि लोगों की आमदनी के बारे म कोइ निश्चित नियम नहीं है—कि कितना रुपया वे किसी खास साल या किसी खास उम्र म कमा सकेंगे।

प्राकृतिक नियम का मतलब प्रकृति क नियम, (क़ुदरती कानून) अथवा उस नियम स है, जो क़ुदरती नियम की भाँति

माना जाने लगा है, इनका एक दफा भी उल्लंघन नही होना चाहिये। उदाहरणत सप्ताह के दिनों का क्रम मानवी रिवाज का करतब है, और यह क्रम उस समय तक है, जब तक कि मानव-समुदाय एक-मत होकर उसमे रद्दो-बदल न जारी कर दे। बस, इसके आधार पर हम ठीक ठीक कह सकते हैं कि इतवार के बाद सोमवार होगा। किन्तु इस नियम मे कोइ छूट या फर्क होता तो हमारे लिये यह अनुमान सभव न होता। हॉ, उस छूट के दूर करने की कोई खास विधि हो, तो बात दूसरी है। किन्तु इस हालत मे नियम का कडापन ही पुष्ट प्रमाणित होता है।

यदि उक्त नियम को ध्यान में रक्खा जाय तो न्याय-सिद्धान्त में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दो और उनके स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी गलती का अंदेशा जाता रहे। जैन-न्याय व्यावहारिक अथवा व्यस्त मनुष्य का न्याय कहा जा सकता है। और उसका पर्याप्त ज्ञान केवल इस अध्याय के पढ लने स प्राप्त हो सकता है।

जब कभी किसी खास कथन की सत्यता और असत्यता का पता लगाना हो, तो यह पूछना एक व्यावहारिक नियम होगा कि क्या यह कथन किसी स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम के अनुकूल और उसके आधार पर निर्भर है? यदि उसका आधारभूत ऐसा नियम हो, तो उसे निस्सन्देह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये। इसके विपरीत यह

असत्य हागा अथवा एक मानसिक कल्पना स बढकर कुछ न होगा ।

विषय-विभाग

मुख्य चार विषय-विभाग है। अर्थात् द्रव्य (substance) क्षेत्र (place) काल (time) और भाव (internal states) इनका पूर्ण रूप निम्न प्रकार है —

द्रव्य स्वत अपना द्रव्य (निजी) हो सक्ता है, अथवा पर पदार्थ, जो अपने सम्बन्ध म आया हुआ है, और इसमें गुण व रूप (पर्याय) सम्मिलित होगे, क्योंकि इनके सिवा किसी द्रव्य का होना ही असभव है।

क्षेत्र से मतलब स्थान, स्थान के घेरने का परिमाण और स्थान म स्थिति स है।

काल समय है, अथवा व्यक्ति का बाहरी पयाय-सत्ता का बाह्य रूप, जैसे एक अस्थिर अथवा स्थिर पदार्थ।

भाव आन्तरिक भाव व दशा है। दूसरो से क्या नाता है? यह सर्वप्रिय है, या नहा।

यदि हम इन्हें सिर्फ दो भागों (१) द्रव्य और (२) गुण में ही घटा दे, जैसे कि कभी-कभी अरस्तू किया करता था, तो पयाय और गुण, द्रव्य और स्थान आदि कोठो में घपला होजाने का डर रहगा। यदि हम इन्हे बढाने की चेष्टा करें ता भी कुछ मतलब न सधेगा, क्योंकि एक पदार्थ

के विषय में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह उपरोक्त चार विषय विभागों में अच्छी तरह आ जाता है।

८ – विभाग

विभाग वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक हो सकता है। वैज्ञानिक विभाग में विषय बराबर बाँट दिया जाता है और कुछ भी शेष नहीं बचता। अवैज्ञानिक विभाग में यह बात नहीं है, वहाँ विषय खतम नहीं होता। उदाहरण के रूप में ले लीजिये कि प्राणियों को मनुष्य, घोड़ा, बन्दर और चूहों में बाँटना ठीक विभाग नहीं है, क्योंकि इस विभाग से उक्त श्रेणी (प्राणियों) का खातमा नहीं हुआ। उसके विभाग का ठीक तरीका इस प्रकार है —

प्राणी

- मनुष्य
  - शिक्षित
    - बहु-श्रुती
    - अ बहुश्रुती
  - अशिक्षित
- अ-मनुष्य
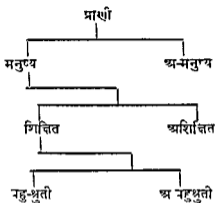
इस प्रकार से विभाग बिना किसी गड़बड़ी के डट के किया जा सकता है ।

भाग २–(अ) तत्व–ज्ञान।

लोक दो भिन्न द्रव्यों—चेतन और अचेतन—से बना हुआ है। अचेतन द्रव्य में घट न बढ पाँच विभिन्न द्रव्य गर्भित हैं। ये हैं —आकाश, काल, धर्म, अधर्म और पुद्गल। चेतन द्रव्य का वर्णन हम आगे आत्म-विज्ञान के प्रकरण में करेंगे। शेष द्रव्यों को इस प्रकार समझिये।

आकाश एक द्रव्य है, जो शून्य स्थान (Vacuum) के रूप का है, यद्यपि वह बिलकुल शून्य स्थान ही नहीं है। वह एक फैला हुआ और छिद्र-रहित शून्य स्थान (Vacuum) है। केवल शून्यता के रूप में वह अस्तित्व-रहित और बिना फैला हुआ होगा, क्योंकि जो सत्ताहीन है, उसमें एक भी गुण नहीं मिल सकता। अत आकाश का, जो फैलाव का धारण किये हुए है, स्वत एक द्रव्य होना लाजमी है।

काल को हम दो भिन्न रूपों में जानते हैं। पहले तो वह समय के माप की हैसियत में घण्टों, दिनों, आदि के रूप में मिलता है। दूसरे वह पदार्थों के परिवर्तन में कारण-रूप दिखाई पड़ता है। प्रकृति में कोई वस्तु भी बिना बरतने के नहीं रह सकती। असंयुक्त पदार्थों में यह बरतना उनकी शक्ति की हीनाधिकता (तबदीली) से होता है। यदि कोई काल-द्रव्य इस शक्ति की तबदीली में सहायक होने के लिये न हो तो पदार्थ अपनी एक-सी हालत में ही सदा मनदा बने रहें। उदाहरण के लिये हमारा चेतना-उपयोग अपने को बार-बार जानता है, सारे जीवन में केवल एक-सा ही रहता। अब यह जानकारी का भाव जो रूप ग्रहण करता है, वह सामयिक तेजी होती है। स्व-उपयोग एक समय में तीव्र होता है, फिर वह मन्द हो जाता है, परन्तु नष्ट होने के पहले ही वह फिर तीव्र हो जाता है। किन्तु स्व-उपयोग के भाव की यह तीव्रता और मन्दता बिना किसी सहयोगी कारण के नहीं हो सकती है। बस, वह कारण ही काल है, अर्थात् वह एक द्रव्य है जो काल कहलाता है, क्योंकि वह मापवाले काल (समय) का निवास है। यह काल आकाश के प्रत्येक अणु पर घूमती हुई सलाइयों (pins) के रूप में मिलता है और उपरोक्त प्रकार पदार्थों के बरतने में सहायक है। यदि काल द्रव्य न हो तो अनुगमन-क्रिया भी कोई न हो, और फिर व्यावहारिक काल

—घण्टा-घडी—भी अज्ञात हो जाय !

धर्म और अधर्म-द्रव्यों (ethers) में पहला तो गति का सहायक-कारण है और दूसरा पदार्थों के स्थिर होने मे सहायता प्रदान करता है।*

पदार्थ जब स्थिर होते हैं तो वह एक-दूसरे के सहारे नही ठहरते, बल्कि उनके मध्य मे एक सूक्ष्म ether (अधर्म द्रव्य) की गद्दी मौजूद होती है।

पुद्गल के वर्णन करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो,इन्द्रियो द्वारा जाना जाता है। वह द्रव्य गुणों से सयुक्त है, अर्थात् वर्ण (लाल, काला, नीला, पीला, और सफेद), रस (कडुवा, खट्टा, चर्परा, कषैला और मीठा), गध (सुगध, दुर्गंध), स्पर्श (कठोर, नरम, खुरखुरा, चिकना, गर्म, ठडा, हल्का और भारी) और शब्द, जो पौद्गलिक पदार्थो के संघर्ष म उत्पन्न होता है—ये उसमे मिलते हैं।

द्रव्य अनादि हैं और वे बनाये-बिगाड नहीं जा सकते। एक अन्य दृष्टि से वे केवल असंख्य गुणो की समुदाय ही हैं, क्योंकि गुणों का द्रव्यों मे होना स्वाभाविक है और वे द्रव्यों से अलग स्वाधीन रूप में नहीं रह सकते। यदि गुण

---

* आधुनिक विज्ञान को यह स्वीकृत है, कि गति ether द्वारा होती है, और यह भी कि दो पदार्थ कभी एक दूसर को वास्तव में नहीं छू पाते, उनके बीच में ether रहता है।

स्वत पृथक् रह सकें, तो गुण का अस्तित्व भी स्वत अलग रह सकेगा। किन्तु इस दशा में वह रूप रंग-रहित होगा और अवशेष पदार्थ अपने अस्तित्व से हाथ धो बैठेंगे, क्योंकि वे अस्तित्व से अलग हो जावेंगे। अत इनमें से कोई भी, निर्णय बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती।

गुण अप्रकट अथवा प्रकट हुए बन रह या बन जावें, किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता और न वह द्रव्य से अलग किये जा सकते हैं।

लोक का काल-क्रम में कभी प्रारंभ नहीं हुआ, क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्यों का अभाव अथवा उनके कर्तव्य की निष्प्रयोजनता माननी पड़ेगी, जो कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण कि प्रकृति में रहना, केवल कर्तव्य करना है। प्रत्येक द्रव्य अपने कर्तव्य में ही अपनी खास सत्ता रखता है और इसी अपेक्षा में वह अन्य पदार्थों से भिन्न ठहरता है। यदि किसी द्रव्य का स्वाभाविक कर्तव्य छीन लिया जाय, तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जायगा। यह मानना कि पदार्थ अपने कर्तव्य से अलग रह सकते हैं, केवल यही अर्थ रखता है कि वे एक ही समय में हैं भी, और नहीं भी हैं, क्योंकि कर्तव्य करना एक खास प्रकार से अस्तित्व रखना ही है, और अस्तित्व में रहना केवल स्वाभाविक कर्तव्य का करना है।

आत्म-विज्ञान ।

१-आत्मा ।

जानना-देखना एक अखण्ड (simple) द्रव्य का काम (कर्तव्य) है । वह संयुक्त पदार्थों द्वारा नहीं हो सकता है ।

जानने-देखने की प्रत्येक क्रिया एक मानसिक ऐक्य (अखंड-भाव) है—एक अविभक्त दर्शन या ज्ञान है । यह क्रिया कोई छाया नहीं है, जैसे किसी पदार्थ की छाया दर्पण में पड़ती है । छाया अंशों की बनी होती है और यह एक शुद्ध ऐक्य-रूप—एक अविभक्त दर्शन ज्ञान—है। यदि यह क्रिया किसी संयुक्त पदार्थ की सतह पर छाया पड़ने की तरह होती, तो उस संयुक्त सतह के किसी भी भाग में पूरा अक्स नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके विविध अंश उस संयुक्त सतह के विविध भागों में पाये जाते हैं। इस तरह उस संयुक्त सतह का प्रत्येक भाग उस अंश को ही जानेगा—अधिक को नहीं—जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ है। उस सतह के किसी भी भाग में संपूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है, और उस पर यह कहीं नहीं जाना जा सकता ।

अतएव मानना पड़ेगा कि जानने-देखने की क्रिया का आधार एक असंयुक्त पदार्थ है, जिसके अविभक्त होने के कारण

समग्र उत्तेजना एक भागहीन वस्तु पर अपना प्रभाव डाल सकती है और एकदम जानी जा सकती है ।

अनुमान (न्याय) का आधार भी एक अविभक्त पदार्थ होना चाहिये । यदि पक्ष और उसको पुष्ट करनेवाली पंक्तियाँ विस्तृत संयुक्त पदार्थ पर फैला दी जायँ, तो मानसिक ऐक्य (synthesis) कभी प्राप्त न होगा । पक्ष आदि के वाक्यों में तार्किक परिणाम उस अवस्था में ही निकल सकता है, जब कि मन सुन अखण्ड और असंयुक्त हो, और उनको और उनके उद्देश्य को ग्रहण करे । यदि एक पक्ष के विषय (contents) एक संयुक्त व्यक्ति के विविध भागों पर बाँट दिये जायें, तो कोई भी भाग सम्पूर्ण मानसिक-ऐक्य का नहीं पा सकेगा और तब कोई परिणाम निकाल लेना असम्भव होगा । अतएव हमारी सज्ञानता, जो सचमुच एक नैयायिक परिणाम निकाल लती है, इस तरह पर एक असंयुक्त द्रव्य अथवा एक असंयुक्त द्रव्य का कार्य होना चाहिये ।

वह मन जो भलाई, प्रेम और सत्य जैसे सामान्य भावों को जान लेता है, इसी प्रकार एक अविभक्त पदार्थ होना चाहिये, क्योंकि सामान्य भाव टुकड़ों में नहीं तोड़ा जा सकते अथवा विस्तृत संयुक्त सतह पर नहीं फैलाये जा सकते ।

असंयुक्त द्रव्य न अभाव में से बनाये जा सकते हैं और न वे विभिन्न अंशों के मिलान से उत्पन्न किये जा सकते हैं ।

उनमें कोई भाग अथवा अलग किये जानेवाले तत्व नहीं हैं और न वे नष्ट अथवा टुकडे-टुकड़े ही किये जा सक्ते हैं।

अब जो पदार्थ न तो बनाया जा सकता है, और न नष्ट ही किया जा सकता है, वह अनादि होना चाहिये। अत चेतना एक नित्य सत्ता है।

बगैर द्रव्य के आधार के कोई मोजूद पदार्थ भी सत्ता-युक्त नहीं रह सकता है। और न वह गुणों का निवास ही हो सकता है। मन (चेतना) भी इस कारण से एक द्रव्य होना चाहिये।

पुरान जमाने के लोगों ने 'आत्मा'-शब्द का प्रयोग अपने उस ज्ञानवान द्रव्य की मान्यता को व्यक्त करने के लिये किया था, जो अविभक्त एव अविनाशी और इसलिये अमर है। यह शब्द ठीक और उचित है। और इसे स्वीकार कर लेना भी ठीक है, क्योंकि जनता मे इसका विशेष प्रचार हो गया है। अन्य भाषाओं मे इस के लिये अन्य उपयुक्त शब्द भी मिलते हैं, जैसे रूह, जीव, सोल (soul) इत्यादि।

इन्द्रिय-दर्शन एक आन्तरिक भाव (affection) है। वह इन्द्रिय उत्तेजना (stimulus) मे नहीं बनता है। उत्तेजना (stimulus) पौद्गलिक है, किन्तु दर्शन पौद्गलिक नहीं है। कागज, जिस पर यह पुस्तक छपी हुई है, रङ्ग मे सफेद है, और कई इञ्च लम्बा-चौडा है, किन्तु मन मे इसका ज्ञान रङ्ग

और नाप से शून्य है । वह एक अविभक्त इन्द्रिय ज्ञान (sensation) है । दर्शन (चेतना) की किसी भी दशा में वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द-जैसे पौद्गलिक गुण कभी नही मिलते हैं ।

अतएव कहना होगा कि चेतना मे वह गुण नहीं है, जो पुद्गल मे मिलते हैं और वह पुद्गल से एक भिन्न द्रव्य है ।

रङ्ग, शब्द आदि मूर्तिक उत्तेजना को ही इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं । वे अमूर्तिक वस्तुओं को नहीं जान सकतीं । मन या चेतना में मूर्तिक गुण (sensible qualities) नहीं हैं । वह और इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता । अतएव आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है ।

७—ज्ञान का स्वरूप ।

दर्शन उस उत्तेजना (stimulus) से भिन्न है, जो उस का उदय कराती है । उत्तेजना स्वभाव से पौद्गलिक है, किन्तु दर्शन आत्मा का सज्ञानता है । दर्शन उत्तेजना-द्वारा केवल जागृत होता है । वह उसके द्वारा बनाया अथवा उत्पन्न नहीं किया जाता । इसके अतिरिक्त सज्ञानता एकत्वमय (unitary) है, और उत्तेजना नहीं है । वह तो स्वभावत संयुक्त है । कोई असंयुक्त पदार्थ बनाया या उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह अपने आप अस्तित्व में है । यह बात चेतना की एक साधारण दशा अर्थात् एक मानसिक संकल्प या

ख्याल के लिये भी, जो अविभक्त है, ठीक-ठीक लागू होती है।

इस भाग में सब प्रकार के दर्शन, ज्ञान और विचार बिना-बनाये और अकृत्रिम रूप से मन में रहते हैं। वे वैसे ही अविनाशी हैं, जैसे कि आत्म द्रव्य—जिसमें वे रहते हैं।

ये विचार उच्छृङ्खल वस्तुयें नहीं हैं, जो किसी तरह असयुक्त द्रव्य—आत्मा में जा घुसे हों। वे एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, और ऐक्य-रूप को धारण किये हुए हैं। इस बड़े ज्ञान के अप्रखण्डित भाग समय-समय पर दृष्टि पड जाते हैं—जो दृष्टि नहीं पडते, वे अप्रकट रहते हैं।

दर्शन की क्रिया—बल्कि उसकी मशीन—तीन भागों से सम्बद्ध है। अर्थात् (१) इन्द्रियें, (२) उत्तेजना ले जानेवाली नाडियाँ और दर्शन केन्द्र, और (३) वैयक्तिक चेतना का 'उत्तर'। पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुई उत्तेजना को इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, फिर उत्तेजना कम्पित क्रिया रूप (vibratory motion) में ऐन्द्रियक नाडियों द्वारा अन्दर को जाती है, और अनुभव तब होता है कि जब चेतना अपने निजी ज्ञान के द्वारा बाहरी उत्तेजना की ओर लक्षित होती है, अर्थात् जब वह उसके जवाब में अपने भीतरी ज्ञान को उपस्थित करती है।

उत्तेजना को लेजानेवाली नाडियाँ उत्तेजित क्रिया को स्वयं अनुभव नहीं करतीं, जिसको वे चेतना तक ले जाती हैं। यदि वे ऐसा करें, तो मार्ग में ही हमें वस्तु का ज्ञान

होना चाहिये। यदि इन नाडियों के छोटे-छोटे भाग (cells) चेतना-मय सूक्ष्म जीवित प्राणी हों, तो वे भी उत्तेजना को अपने मन के विकास के अनुसार किसी हद तक 'देख' और समझ लेंगे, जो उनके ऊपर से गुजर रही है। किन्तु जो कुछ इनमें से प्रत्येक सूक्ष्म प्राणी देखेगा, वह उसे अपने पड़ोसी को नहीं बता सकेगा, क्योंकि जानना-देखना लेन-देने योग्य (alienable) पदार्थ नहीं हैं।

३-सर्वज्ञता।

वह एकता-रूपी महान् ज्ञान (Idea), जो आत्म-द्रव्य का लक्षण है, वह अपने विषय (contents) में अनन्त है। वह प्रत्येक समय और स्थान की प्रत्येक वस्तु को प्रकट कर सकता है। यह इस कारण है कि वस्तुयें बाहरी उत्तेजना के परिणाम-रूप चेतना के कर्मशील होने पर जानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त जब कि आत्मा एक द्रव्य है और जब कि द्रव्य के लक्षण और गुण प्रत्येक पदार्थ में एक-से रहते हैं, तब प्रत्येक आत्मा में एक-समान ज्ञान का होना जरूरी है। इस लिये जो बात एक आत्मा जानेगा, उसे सब आत्मायें जान सकेंगी। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक आत्मा में वह सब जानने की शक्ति है, जिसे एक या सब आत्माओं ने गत काल में जाना हो और जिसे आज कोई जानता हो अथवा भविष्य में जानेगा। साराशतः प्रत्येक

आत्मा स्वभावत अनन्त ज्ञान का अधिकारी है, जो समय और स्थान द्वारा सीमित नहीं है। साफ शब्दों मे, प्रत्येक आत्मा स्वभावत सर्वज्ञ है।

जो चेतना द्वारा कभी न जाना जाय व असत्तामय है। कारण कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जिसका अस्तित्व प्रमाणित न हो, वह मान्य नहीं हो सकता। और जिसे कोई कभी जान ही नहीं सकेगा, उसका अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं हो सकेगा। अतएव प्रत्येक पदार्थ आत्मा द्वारा जाना जा सकता है।

इसलिये कहना होगा कि आत्मा का अनन्त ज्ञान भूत भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों की, और सब स्थानों की प्रत्येक वस्तु को—जो प्रकृति में कभी उपस्थित रही हो, जो इस वक्त रहती हो अथवा जो भविष्य में रहेगी—जानने की शक्ति रखता है।

४–आत्मा एक सचेतन द्रव्य है।

आत्मा अपने अनन्त, सर्वव्यापक और सर्वदर्शी ज्ञान (Idea)से भिन्न या अलग नहीं है। यदि वह उससे पृथक् होता, तो ज्ञान उसमें उसी तरह रहता, जिस तरह आदमी मकान में रहता है। किन्तु आत्मा के भीतर कोई ऐसा शून्य स्थान नहा है कि वह वहाँ ज्ञान को भाडेतू के रूप रख सके।

इसके अतिरिक्त, इस मान्यता के अनुसार, ज्ञान आत्मा

की सज्ञानता की एक दशा न होकर एक बाहरी पदार्थ हो जाता है और वह अन्य पदार्थों की तरह बाहरी उत्तेजक क्रिया से ही जाना जा सकता है, किन्तु ज्ञान से ऐन्द्रिक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह स्वभावत अमूर्तिक है।

अतएव हमे मानना होगा कि ज्ञान और आत्मा—दोनों शब्द एक ही द्रव्य के दो नाम हैं। ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। इसलिये आत्मा स्वभावत एक सचेतन द्रव्य है।

प्रत्येक जीवित प्राणी में दो प्रकार का उपयोग है, (१) दर्शन-रूपी (मतिज्ञान) और (२) समझ (श्रुतिज्ञान) अर्थात् जो कुछ देखा जाय उसका भाव या मूल्य समझ लेना, जैसे कि नारङ्गी को पदार्थ-रूप देखना और यह जानना कि वह एक खाने की वस्तु है। दूसरे प्रकार के उपयोग म शब्दों के भाव का जानना भी गर्भित है। किन्तु इस प्रकार के उपयोग (शब्दों के रहस्य) का अनुभव उच्च गति के प्राणियों को ही होता है। हाँ, जीवित प्राणियों की कोई भी ऐसी गति नहीं है, जो किसी भी सूक्ष्म अंश म इन दोनो प्रकार के ज्ञान को न रखती हो, क्योंकि यह बात तो नीचतम गति के प्राणी भी जानते हैं कि भोजन क्या है, और क्या नहीं है, यद्यपि उनका यह ज्ञान केवल सज्ञा-रूप (विचार-शून्य) होता है।

५—ज्ञानावरणी पर्दा ।

आत्मा का निजी अनन्त ज्ञान किसी प्रकार के आवरण से अवश्य ढका हुआ है, अन्यथा वह अपने पूर्णत्व में प्रकट होता। इसी आवरण को ज्ञानावरण कहते हैं, और इसका भाव ज्ञान पर पड़े हुए आवरण से है। यदि यह ज्ञान को ढकनेवाला पर्दा न हो तो चेतना बिना बाहरी उत्तेजना के ही अपने ज्ञान को प्रकट कर सके।

ज्ञान का आवरण द्रव्यात्मक है और सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य का बना हुआ है। वह सब आत्माओं में मोटाई की अपेक्षा एक समान नहीं है। किसी प्राणी के एक इन्द्रिय ही है। उनके अन्दर आवरण इतना मोटा है कि वह अन्य चार इन्द्रियों की शक्ति को व्यक्त नहीं होने देता। किन्हीं के स्पर्शन और रसना-इन्द्रियां हैं—इन्हें शेष तीन इन्द्रियों की कमी है, और इसी तरह अवशेष भी समझ लीजिये।

मनुष्य में ज्ञान के आवरण के पतला होने के साथ-साथ विचार की एक खास 'इन्द्रिय' भी प्रकट हो जाती है। किन्हीं पञ्चेन्द्रिय पशुओं, जैसे घोड़ा, बन्दर, कुत्ता आदि, में भी यह मन-इन्द्रिय प्रकट होती है, परन्तु मनुष्य के मुकाबिले में वह कमजोर होती है। इसके अतिरिक्त पहुँचे हुये साधुओं के सम्बन्ध में यह ज्ञान को रोकनेवाला आवरण और भी हल्का हो जाता है। तब वह अवधि और मन-पर्यय-ज्ञान

का आनन्द अनुभव करते हैं। और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट कर दिया जाता है, तो आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है, अर्थात् सर्वदर्शी और सर्व-ज्ञाता।

६—भावना (इच्छा-शक्ति)।

इच्छा के आधीन जो क्रिया-शक्ति है वह will (वासना, भावना) है। इच्छाओं का समूह ही भावना है। स्वयं इच्छायें मानसिक अभिलाषायें अथवा मानसिक माँगें हैं, जो पूरी होना चाहती हैं। मन के केन्द्रीय दफ्तर में आत्मा भावना-रूप में प्रकट होता है। अपने उद्देश्य के कारण मानसिक उद्गारों में भेद होता है, क्योंकि प्रत्येक उद्गार किसी खास कार्य को लक्ष्य रखता है। यह उद्देश्य चेतना की दशा के रूप में रहते हैं, जो चक्षु अथवा अचक्षु-दर्शन से सम्बन्धित होते हैं।

मानसिक इच्छाओं (वासनाओं) में से जो बहुत तेज़ होती हैं, उन्हीं के अनुसार एक खास समय में व्यक्ति के कार्य और विचार करने की रूप-रेखा बनती है। कमज़ोर वासनायें मौन रहती हैं—उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि अपना प्रभाव दिखा सकें। किन्तु स्वभाव में वह भी ज्वाला मुखी से कम नहीं हैं, और उनका उचित कारण पाकर क्रिया रूप में पलट जाना सम्भव है। भोग-अभिलाषा की जैसी

भावना होती है उसी अनुरूप इच्छित मार्ग भी विचार के समय निश्चित हो जाता है।

किसी व्यक्ति की तबियत (मिजाज) अथवा स्वभाव उसकी इच्छाओं के समुदाय के सिवाय और कुछ नहीं है। यदि इच्छायें मन्द और अल्प संख्या में होंगी तो स्वभाव उत्तम दर्जे का होगा और इसके विपरीत निम्न कोटि का होगा। स्वभाव का किसी खास मामले में क्रिया-रूप होना चरित्र है। सम्भव है, क्रिया साधारण स्वभाव के अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो। यदि कोई मन्द इच्छा एकदम भड़क उठे और व्यक्ति उस पर अधिकार न कर सके, तो उससे वह चरित्र वस्तुतः उसके साधारण स्वभाव के अनुकूल न होगा। अन्य दशाओं में चरित्र का व्यक्ति के साधारण स्वभाव के अनुकूल होना सुसंगत है।

७–कषाय।

जब इच्छायें तीव्रता से क्रियाशील होती हैं, तब वे कषायों अर्थात् तीव्र मानसिक भावों में बदल जाती हैं। किसी वस्तु को पाने की तीव्र लालसा ही लालच है। किसी पदार्थ के भोगने या पाने में विरोध को पाकर जो रोष प्रकट होता है, वही क्रोध है। इच्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिये दाँव-पेच से कार्य लेना ही माया है। इच्छित पदार्थों की प्राप्ति से जो उत्कट आत्म-श्लाघा प्रकट होती है, वह मान है।

कषाय चार प्रकार के तीव्र रूप को धारण कर सकते हैं। इन्हें मन्द, तीव्र, परास्त कर देनेवाले और अनिवारणीय कहा जा सकता है। तीव्रतम दशा के अनिवारणीय कषाय ही सब से निकृष्ट कोटि के हैं। जो प्राणी उनके प्रभाव में होगा, वह किसी चीज से नहीं रुकेगा और उसका व्यवहार पागलों जैसा होगा। वह अपने-चाहे दूसरे को मार भी डालेगा।

कषायों के बहुत से भेद हैं, परन्तु वे सब मुख्य चार के ही अन्दर गर्भित हैं।

सब प्रकार के कषाय कम-बढ़ मन की एकाग्रता और बुद्धि के कार्य में बाधक होते हैं। यह इस कारण से, कि कषाय इच्छा के उत्तेजक-रूप हैं, अर्थात मानसिक कामना या आन्दोलन (या स्फुरण) हैं। जो मनुष्य या पशु किसी पदार्थ पर अधिकार करना चाहेगा, उसके लिये उस पदार्थ का दृश्य मन में तूफान मचा देनेवाला होगा। जिसके हृदय में ऐसी कोई इच्छा नहीं होगी तो उस पदार्थ के होते हुए भी वह किसी तरह प्रभावित (बेचैन) न होगा।

इच्छा आत्मा से अलग कोई पदार्थ नहीं है। किसी पदार्थ पर अधिकार करने की लालसा से प्रेरित हुई आत्मा अर्थात् तीव्र उत्कण्ठा से व्यग्र आत्मा ही स्वतः इच्छा का वास्तविक रूप है। ठीक यही बात कषायों के लिये लागू है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी आत्मा से कहीं अलग नहीं हैं। वे तड़पती हुई आत्मा के विभिन्न रूप अथवा पर्याय-मात्र हैं।

८—बुद्धि।

भावना की भाँति बुद्धि भी आत्मा की एक शक्ति (रूपान्तर) है। भावना तो इच्छा-शक्ति है और बुद्धि विचार करने का बल है। ये दोनों रूप अलग-अलग नहीं हैं, और न किसी तरह अलग-अलग किये ही जा सकते हैं। भावना-शक्ति स्वय तर्क-रूप में कार्य करने लगती है, जब कि वह विचार करने की गम्भीरता पा लेती है। गम्भीर विचारक को जब भयानक कषाय आ घेरते हैं, तब बुद्धि तुरन्त बेकार हो जाती है। यदि आत्मा की शान्ति को भङ्ग करने के लिये इच्छायें न हों, तो वह सर्वज्ञाता हो जाय। और जब उसमें इच्छायें मन्दतर रूप में होती है तब वह गम्भीर विचारक और विवेकी होता है। किन्तु जब वह तीव्र कषायो के आधीन होजाता है, तो उसे निर्दयी बनते और अविचारी कार्य करते देर नहीं लगती—वह स्वय मरने और दूसरे के मारने की परवा नहीं करता।

बुद्धि उस समय भी ठीक-ठीक कार्य नहीं कर पाती, जब उसमें पक्षपात का विष प्रवेश कर लेता है। तथापि पक्षपात के पागलपन की शक्ल में पलट जाने पर वह नि शेष हो जाती है।

अत वह पाँच प्रकार की शक्तियाँ जो बुद्धि के ठीक-ठीक कार्य करने मे बाधक हैं, चार प्रकार के कषाय और पाँचवाँ नि कृष्ट दशा का पक्षपात हैं। जब तक इन पर अधिकार

नहीं जमाया जायगा, तब तक गम्भीर विचार कर सकना सम्भव नहीं है।

६—ध्यान (उपयोग)।

सचेतन खोज का साधन ध्यान है, और वह दर्शन और ज्ञान-क्रिया को सिलसिलेवार (क्रम से) होने देता है अर्थात् वह उनकी सम्पूर्णता को रोकता है। जब तक कि पदार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया जायगा मन उसे जान न सकेगा। मुँह में रक्खी हुई चीज (जैसे मिठाई) का स्वाद भी उस समय तक मालूम न होगा जब तक मन उसकी ओर न पहुँच जायगा।

बस, ध्यान का कार्य उत्तेजना को पदार्थ से आत्मा तक पहुँचाना है। यदि उत्तेजना को आत्मा तक नहीं पहुँचने दिया जायगा, तो वह चेतना को क्रियाशील नहीं कर सकेगी, और एवं ज्ञान को जगाने में असफल रहेगा।

ध्यान आसक्ति का द्योतक है। हम उसी ओर ध्यान देते हैं, जिस ओर हम आसक्त होते हैं। भावना की इच्छाओं में से जो मुख्य होगी, वह अपनी चाह की चीजों से तृप्त होने को हर समय तैयार रहेगी। दूसर शब्दों में वह—र अपनी तृप्ति के लिये प्रतिक्षण बद्ध-परिकर होगी। इसी का नाम ध्यान है। ये अन्य इच्छाओं को पीछे ढकेलकर स्वयं आगे आ जमती हैं, और थोड़ी देर के लिये उन्हें दबा

देती हैं। अब यदि यह ध्यान इतना ढीला न कर दिया जाय कि और पदार्थों की उत्तेजना को आत्मा तक पहुँचा सके, तो उनके निकटतम (जैसे जबान पर रखी हुई मिठाई) होने पर भी वह उनको जान न सकेगा।

ध्यान उन वस्तुओं को चेतना के घने उजाले में ले आता है, जिन परवह केन्द्रीभूत किया जाता है फिर वह अपने समूचे गत-अनुभव की विस्तृत राशि को उनके सम्मुख ला उपस्थित करता है, ताकि उनके स्वरूप को जान सके।

आत्मा से पृथक् रूप में ध्यान कोई वास्तविक और अलहदा वस्तु नहीं है। वह तो एक खास रूप से कार्य में न्यस्त आत्मा ही है।

पहले-पहल ध्यान अनायास ही एक वस्तु की ओर आकृष्ट होता है। वह उस रोशनी के किरण-समूह (धारा) की तरह है, जो प्रत्येक दिशा में हर क्षण घूमती रहती है, जब तक कि वह किसी ऐसे पदार्थ पर न जा अटके जो मनोरञ्जक हो। पहले साधारण रूप-रेखा अर्थात् पदार्थ के सामान्य गुण ही दृष्टि पड़ते हैं। किसी खेत में पहुँचने पर आप पहले घास को ही देखेंगे और यह नहा जानेंगे कि वह किस प्रकार की घास है? उपरान्त यदि आपको उसमें मनोरञ्जन होगा तो आपका ध्यान उस पर ठहर जायगा और फिर एक-एक करके वह उसकी सब बातें जान लगा।

यह इसलिये है कि पहले बाहरी दुनियाँ में इच्छाओं की पूर्ति के ढूँढनेवाले मानसिक भावों के द्वारा ही ज्ञान होता है।

भावनायें इच्छाओं के सिवाय और कुछ नहीं हैं, जो एक दूसरे से शक्ति में इतनी भिन्नता नहीं रखतीं जितनी कि स्वरूप में। भूख की इच्छा प्यास की इच्छा से एक भिन्न प्रकार की वस्तु होना ही चाहिये। नारंगी खाने की चाह केले की भावना जैसी नहीं हो सकती। अत इच्छायें मानसिक स्फुरण के भिन्न भिन्न रूप हैं, जो विविध वस्तुओं के सामान्य रूपों के द्योतक हैं।

चक्षु अथवा अचक्षु-दर्शन-सम्बन्धी सामान्य भाव स्वभावत एक अविभक्त इन्द्रिय-ज्ञान के मूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह मूर्ति नहीं हो सकते, क्योंकि इस दशा में वह विशेष रूप को धारण कर लेंगे। अचक्षु-दर्शन-सम्बन्धी सामान्य भाव भी विशेष रूप को ग्रहण नहीं कर सकता। आमरस का सामान्य भाव वही वस्तु नहीं हो सकता जो कि एक खास आम के रस का भाव होगा, बल्कि यह एक मूर्तिक ज्ञान या दर्शन का भाग या अंश नहीं है। कारण कि किसी भी प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान टुकड़ों या अंशों में नहीं बाँटा जा सकता, और न कोई ज्ञान एक से अधिक हिस्सों का सयुक्त पदार्थ ही है।

इस तरह पर एक पदार्थ की इच्छा (मान लीजिये

नारङ्गी की इच्छा) एक खास प्रकार की मानसिक उथल-पुथल है जो नारङ्गी के सामान्य ज्ञान के अनुरूप है। अर्थात् उसमें नारङ्गी—विषयक इतना ज्ञान होगा, जो सब नारंगियों से लागू हो। दूसरे शब्दों मे कहे तो वह एक प्रकार का भाव (sensation) है, जो नारङ्गियों की जात के कुल व्यक्तिय से समानता और सम्बन्ध रखता है। किन्तु जो नारङ्गी की जात के बाहर किसी दूसरे पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही रखता है।

सामान्य ज्ञान का स्वरूप अब और भी स्पष्टता से कहा जा सकता है। द्रव्य के आधार के रूप मे वह आत्मा की ही एक अविभाजनीय अपेक्षा है, ज्ञान के रूप मे उसके अश आगे नही ढूँढे जा सकते हैं, वह इन्द्रियो के परे हैं। वह मन-द्वारा समझा जाता है—देखा नहा जाता है। क्रियाशील वासना की प्रेरक शक्ति की हैसियत से वह इन्द्रिय-दर्शन का मानसिक जोड है, क्योंकि वह आत्मा और पुद्गल के मिलाप के कारण उत्पन्न होता है, और साधारण तौर से वह एक प्रकार की शक्ति है, जो और वैसी ही शक्तियों से तेजी-रफ्तार और (ताल) माप की अपेक्षा भिन्नता रखती है। किन्तु वह केवल प्राकृतिक बल नहीं हो सकता है, क्योंकि वह चैतन्य आत्म-द्रव्य का भाव है।

जब कि सामान्य मानसिक तडपन की, जिसे इच्छा कहो

चाहे वासना, एक ऐसी वस्तु से मुठभेड़ होती है, जो अपने में से वैसे ही आन्दोलन की लहरें उत्पन्न करती है, तो उसे एक प्रकार के धक्के या स्फुरण का सा अनुभव होता है, जो कि दर्शन (perception) का पहला कार्य है, अथवा दर्शन के प्रयोग मे पहली पादुका है। इस अवस्था में ज्ञान स्पष्ट नहा होता है, बल्कि अनुभव की तरह की वस्तु होता है। अर्थात वह एक दर्शन-सम्बन्धी भावना है— स्पष्ट ज्ञान नहीं। इसके बाद ध्यान का कार्य प्रारम्भ होता है, वह अपनी आन्तरिक चेतना-शक्ति के द्वारा वस्तु के स्वरूप को जान लेता है। इसका परिणाम ठीक-ठीक ज्ञान होता है।

अत कहना चाहिये कि वासनाएँ मानसिक re-agents* हैं, और सामित बुद्धि वाले प्राणी को पहले-पहल बाहरी पदार्थों का ज्ञान इन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। इनमें पदार्थों के सामान्य स्वरूप का आकार मौजूद होता है, और वह पदार्थों को उनकी और अपनी निजी तड़पन (या आन्दोलन) के सादृश्य के द्वारा जान लेते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से ध्यान पर्यारोहण (succes ion) का यत्र है, और इसलि को सीमित करने का कारण है।

---

* शब्द re-agent का भाव पहचानने के मार्ग हैं। यह इल्म कीमिया की एक परिभाषा है।

हम सब वस्तुयें एक-साथ नहीं जान लेते, बल्कि एक के बाद एक करके उन्हे जानते हैं, यद्यपि ज्ञान अपने अनन्त रूप में हर समय चेतना में मौजूद है। यह अनन्त ज्ञान ध्यान को खास उन कुछ पदार्थों की ओर लगाने से सीमित होता है। हम उस समय क्षेत्र को भी नहीं देख पाते, जिसका अक्स हमारे नेत्र के पर्दे पर पड़ता है। जिस वस्तु में हमारी दिलचस्पी होती है, केवल उसी पदार्थ को मन जान पाता है।

१०—सञ्ज्ञा।

काँटे की भाँति चुभनेवाली वासनायें ही सञ्ज्ञा हैं। सञ्ज्ञायें खास चार हैं —

(१) भय (प्राण) सञ्ज्ञा।
(२) भोजन सञ्ज्ञा।
(३) मैथुन सञ्ज्ञा, और
(४) परिग्रह सञ्ज्ञा।

जीवन-क्रम में मिश्रित संज्ञायें भी प्राप्त कर ली जाती हैं। किन्तु वे अधिकांश चरित्र की ही प्रभेद होती हैं—स्वाधीन सञ्ज्ञा उन्हें नहीं कहा जा सकता।

सञ्ज्ञाओं को नियमित तथा परिमित किया और नष्ट भी किया जा सकता है। आत्म घात प्राण-सञ्ज्ञा को नष्ट कर देता है। ब्रह्मचारी मैथुन संज्ञा को परास्त कर देता है। साधुगण

परिग्रह-सञ्ज्ञा के ममत्व का नाश कर देते हैं, और जो सर्वज्ञ होजाते हैं, वह क्षुधा को भी जीत लेते हैं। वह भोजन से उदर-पोषण नहीं करते, वल्कि ज्ञान ही उनका भोज्य पदार्थ है।

भय को भी साधुगण जीत लेते हैं, जो हमेशा मृत्यु के लिये तैयार रहते हैं, और वे आपत्ति एवं रोग से तनिक भी विचलित नहीं होते।

११–अव्यक्त चेतना।

अनन्त ज्ञान स्वयं आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह साधारणतः प्राप्त नहीं है। वह ज्ञानावरण की पौद्गलिक तहों में छुपा हुआ दबा पड़ा है। वह उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि ज्ञानावरण की पौद्गलिक तहें बिल्कुल नष्ट न करदी जायें, जिससे कि वह उस में से झलकने लगे। अनन्त ज्ञान इस समय अक्रिय रूप में हमारे व्यक्तित्व की सब से नीचे की तहों (strata) में पड़ा हुआ है।

वे वासनायें (impulses) जो क्रिया शील हैं, हमारी उस थोड़ी-सी चमकती हुई बुद्धि की किरण को घेरे हुए हैं, जिस के बल पर हम जीवन-व्यवहार का कार्य करते हैं। हम अपने आन्तरिक सम्बन्धों का समन्वय इस स्वल्प बुद्धि के सहारे से बाहरी दुनिया के साथ करते रहते हैं। यह भी कभी-कभी उत्तेजक भावों (वासनाओं) की उग्रता के कारण अस्पष्ट

हो जाती है। अवशेष भावों में, जो कम क्रियाशील अथवा अर्द्ध-व्यक्त है, वह ध्यान के नेपथ्य में रहते हैं, और अवसर पाकर प्रकट होते रहते हैं। वे उपयोग के 'तहखाने' मे रहते हैं।

दवाये या रोके हुए भाव भी, जो किसी कारणवश वल-पूर्वक शमन किये गये, वह भी मन्द रूप से किसी न किसी दशा में, वहुधा विकृत सयोगों के साथ सम्वन्धित दशा में, मन मे रहते है।

ये सव-कुछ मन मे उपयोग (चेतना) की विविध सतहों पर रहते हैं।

१२-मन की केन्द्रीय इन्द्रिय

शरीर की बुद्धि-विषयक क्रिया का कार्यालय मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय है। वह सव इन्द्रियों से सम्वन्धित अर्थात् सव के लिये केन्द्र-रूप है। अँग्रेजी भाषा में इसको ही सहज (साधारण)-बुद्धि (common sense) कहते हैं। यदि विचार करने की यह इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों से सम्वन्धित न होती, अर्थात् मनुष्य के शरीर में किसी एक स्थान पर से यदि इन्द्रियों पर शासन न होता, तो जीवन में वडा गडवड घोटाला मच जाता, और अनिश्चित मूल्यवान समय व्यर्थ ही खराव होता। विचार करने में भी वडी देर लगती, यदि व्यक्तिगत उपयोग को प्रत्येक इन्द्रिय के [illegible]

अलग अलग विचार-क्रिया की विविध दर्शन विषयक बातों के लिये जाना होता। इस दशा मे विचार और शारीरिक क्रिया का एकीकरण होना भी असंभव हो जाता।

मन-रूपी इन्द्रिय का मुख्य कार्य व्यक्ति की ज्ञान और कर्म-इन्द्रियों से सम्बद्ध क्रिया की सब परिस्थितियों का एकीकरण करना, समय को बचाना, और गडबड घोटाला न होने देना है। आत्मा एक इञ्जीनियर के समान है, उसके दफ़्तर में सब कल-पुर्जे और कनेक्शन वगैरह होने ही चाहियें। यदि कोई भी विभाग वहाँ उपस्थित न हो, तो उसके कारण जो ज्ञान उपलब्ध न होगा, उससे भयानक परिणाम ही प्रकट होगा।

मन की केन्द्रीय इन्द्रिय में ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार की नाडियाँ पहुँची हुई हैं। पहली प्रकार की नाड़ियों से बाहरी दुनिया का ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी के द्वारा ही इच्छा-रानी की आज्ञाओं का पालन विविध प्रकार का शारीरिक हलन-चलन द्वारा होता है। 'ज्ञान'-इन्द्रियों की नाडियों की व्यवस्था पुनरावृत्ति के लिये भी आवश्यक है, जैसे स्मृति। और स्मृति की तेज़ी, जिस से वह विचार-क्रिया के लिये ख़याल की सामग्री उपस्थित करती है, इस बात को प्रकट करती है कि स्मृति भी मन के दफ़्तर ही में स्थान (मुकाम) पाये हुए हैं।

अतएव मन एक 'की-बोर्ड' की व्यवस्था (system

of key-boards) है, जिस पर इच्छा शासन करती है। वह इच्छा का मुख्य दफ़्तर है—यहाँ पुद्गल का आवरण अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक हलका है।

१३—हृदय-कमल ।

आत्मा का केन्द्र-स्थान सिर मे नहीं है, क्योंकि सिर कषायों और उद्वेगों का निवास-स्थान किसी अवस्था मे भी नहीं है। वह केन्द्र तो हृदय-स्थल मे अवस्थित है,—सो भी हृदय-नामी शारीरिक अवयव में नही, वल्कि रीढ की हड्डी मे (हृदय-चक्र) मे, यद्यपि यह बात ठीक है कि उसका प्रभाव स्थूल हृदय पर पडता है और स्थूल हृदय का प्रभाव उस पर पडता है। इस के अतिरिक्त और कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ उसे ठीक-ठीक स्थित किया जा सके। कषायों और उद्वेगों के प्रभाव से हृदय की भाँति अन्य कोई स्थल प्रभावित नहीं होता और सारे शरीर में और कोई स्थान आत्मा का केन्द्र-स्थान होने के उपयुक्त नहीं है।

हृदय-कमल एक नाडी-केन्द्र है, जिसके दलों का इच्छा-शक्ति (will) के लिये कार्यवाही का की-बोर्ड बना है। यह की-बोर्ड मस्तिष्क के विविध केन्द्रों से सम्बन्धित है, जिनके द्वारा वाहरी जगत का ज्ञान प्राप्त होता है, और उसका सम्बन्ध शरीर के विविध अवयवों से भी है, जिनके जरिये से आत्मा की इच्छाओं की पूर्ति होती है।

यहाँ निविध वासनाओं से भरित आत्मा (will) बाहरी जगत् में अपना बाधाओं को पूरी करने में व्यक्त मिलता है, वह अपने-आप 'तर्क' (reason)-रूप में काम करता है, जब कि वह अपनी आकांक्षाओं को एक हद तक दबाने में सफल होता है। वह स्व-व्यक्त हो जाता है (उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है) तब उसके पक्षपात का नाश हो जाता है, और कषाय मन्द पड़ जाते हैं, और तब उसके हृदय से बाहरी वस्तुओं को भोगने की इच्छाओं का सर्वथा नाश हो जाता है, तब वह सर्वज्ञ होजाता है।

अतएव हृदय ही आत्मा का कार्यालय और शासन-मन्दिर (मस्तिष्क) नहीं है।

अर्थात् एक-एक तो प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के लिये, एक स्मृति और पुनरावृत्ति के लिये, एक कर्मेन्द्रियों की क्रिया के लिये और एक कल्पना रचनात्मक शक्ति के लिये।

नाड़ियों के छोरों के उक्त सयोग अनुभव के द्वारा रचे जाते है, और उनके प्रयोग मे योग्यता व्यवहार के सहारे से प्राप्त होती है।

इस प्रकार से सुसज्जित हुआ आत्मा अपने दफ्तर मे मे बाहरी दुनिया की ओर बडी सुगमता से ध्यान दे सकता है। वह ज्ञान-इन्द्रियो की क्रिया से वस्तुओं के स्वभाव को जान लेता है, और वह अपने अवयवो के प्रचलन करने से अपने को बाह्य प्रकृति से शारीरिक ससर्ग मे लाता है, अपने शारीरिक अवयवों को वह अपनी इच्छा के आदेशानुकूल कर्म-नाडियो-द्वारा प्रचलित करता है।

मुख्यत स्मरण-शक्ति दो प्रकार की है, स्मृति और पुनरावृत्ति। पहली तो किसी अनुभव या दृश्य को याद कर लेना है, और दूसरी कण्ठस्थ किये हुये किसी पाठ को पुन पढ डालना, अथवा शारीरिक क्रिया का मनोनिवेश की सहायता के बिना ही या उसके अभाव मे दुहराना।

नाड़ियों के मध्य स्थान पर स्थित आठ प्रकार के की-बोर्ड को 'मन की केन्द्रीय इन्द्रिय' (Central Organ of the Mind) कहा गया है। यही स्मरण-शक्ति का

आगार है। जिन प्राणियों के यह नहीं है, उनके स्मृति का अभाव है। उनमें अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता नहीं है, और वह केवल वर्तमान में जीवन व्यतीत करते हैं। यदि उनको पुकारो, तो वह 'उत्तर' न देंगे, अर्थात् नहीं जानेंगे कि उनको पुकारा गया है।

दर्शन और स्मरण में अन्तर इस बात का है कि एक में तो ऐन्द्रियक उत्तेजना—जो मन में एक ज्ञान-भाव अथवा चेतना की एक अवस्था को उत्पन्न करती है—बाहरी दुनिया में जन्म लेती है, किन्तु दूसरे में उसका जन्म भीतर से होता है। मन में स्थित ज्ञान-तन्तुओं का बना हुआ की-बोर्ड ठीक वैसी ही उत्तेजना उत्पन्न करने में सामर्थ्यवान, है, जैसी कि बाहरी दुनिया से आती है, और चेतना उसका उत्तर उसी ढंग पर देती है, जैसे कि वह दर्शन के अवसर पर देती है। यही वजह है कि स्मृति भी ठीक वैसी ही प्रबल और ताजी हो सकती है जैसे कि दर्शन!

नाड़ियों के सिरों का आठ प्रकार का की-बोर्ड 'आठ दल का कमल' अथवा 'द्रव्य-मन' कहलाता है। यह आत्मा नहीं है, और न स्वभाव से ज्ञानमय है। वह सूक्ष्म पुद्गल का बना हुआ है, और आत्मा के प्रयोग के लिये एक यन्त्र-मात्र है।

१५—सकल्प-सयोग ।

सङ्कल्प-भाव अपने विषय अथवा भाव के लिहाज म चाहे अमयुक्त हों, अथवा मिश्रित—वे सब द्रव्याधार की अपेक्षा अखड (असयुक्त) ही होते हैं।

मिश्रित भावों की विभक्ति साधारणतर अशों मे की जा सकती है, किन्तु उनके टुकडे टुकडे नही किये जा सक्ते। क्योंकि टुकडे टुकडे किया हुआ ज्ञान-भाव सिवाय मूर्च्छा के और कुछ न होगा। मैं इस कागज को नष्ट कर मकता हूँ, जिस पर अब मैं लिख रहा हूँ, किन्तु यह मेरे एव अन्य किसी व्यक्ति के लिए भी असभव है—(सारी दुनिया-भर के लिए भी यह अमभव है)—कि वह इसके मन मे उपस्थित सचेतन प्रतिरूप को नष्ट कर सके। सत्य यह है, कि एक सचेतन भाव उतना ही नाश होने के अयोग्य है, जितना कि वह बनाया या पैदा किया जाने क अयोग्य है।

मिश्रित भावों का जन्म मोजूदा भावों के टुकडो को मिलाने से नही होता। वे मन में मौजूद रहते हैं, और व अमयुक्त भावों की तरह ही जागृत किये जाते हैं। मान लीजिये कि एक लडकी अपनी गुडिया को सँवारने जा रही है। अब पहले ही पहले वह एक नंगी गुडिया को अपने हाथ में लेती है, और तव उसके मन में भी उस खास गुडिया की नग्नता का सचेतन भाव उपस्थित हो जाता है।

उपरान्त वह एक चोला उसे पहनाती है। अब बाहर पुद्गल और शक्ति की दुनिया में गुडिया वही रहती है, किन्तु मन में पहलेवाली नन्ही गुडिया बिल्कुल ओझल हो जाती है, और उसका स्थान एक नई सँवारी हुई गुडिया ले लेती है, जो बिल्कुल पहलेवाली गुडिया के समान है। इस तरह जब-जब गुडिया को एक नया कपडा पहनाया जायगा, तब-तब एक बिल्कुल नया सचेतन भाव मन में उदित होगा, और पुराना भाव अन्तस्थ में विलीन हो जायगा।

यही हालत तब भी होती है, जब कोई एक मकान को गिराया जाता हुआ देखता है। बाहरी दुनिया मे घर वही रहता है और धीरे-धीरे गिराया जाता है, किन्तु मन म घर के गिराने की ऐसी कोई क्रिया घटित नहीं होती, और न घटित हो ही सकती है। वहाँ प्रत्येक क्षण एक नई मूर्ति का आविर्भाव और प्रत्येक दूसरे क्षण उसी का तिरोभाव होता है। यह बाहरी उत्तेजना के अनुसार होता रहता है। जब आप अपने सामने खडी हुई किसी आलीशान इमारत को देखते हैं, तब भी आप उसकी ठीक एक ही शक्ल एक क्षण से अधिक देर तक मन म नहीं ठहरा पाते। उत्तेजक क्रिया बराबर चालू रहती है, और उसका सचेतन उत्तर भी उसी प्रकार सिलसिले से क्षण प्रति क्षण चालू रहता है। हाँ, जाहिरा आपको एक शक्ल

के स्थायी होने का जो धोखा होता है, वह प्रतिविम्बित पदार्थ के बाहरी जगत् में स्थायी होने का ही परिणाम है।

इस प्रकार सभी मिश्रित भाव अपने स्वभावमें वस्तुत असयुक्त ही हैं। किन्तु जहाँ तक स्मरण शक्ति के निर्माण का सम्बन्ध है, वहाँ तक भावो का सम्मिलन नाडियो के तन्तुओं के सयोग से होता है, जिनके प्रतिनिधि मन रूपी चेतना इन्द्रिय मे मौजूद रहते हैं, जब कि नाडियाँ उपयोग की अवस्थाओं (भावों) की तरह असयुक्त (simple) वस्तुयें नहा हैं, तब उनके अन्दरूनी सिरों के मिलने से घटन (key)-रूपी सयोगों का बनना जरूरी है, यदि वह लडकी, जो अपनी गुडिया को सँवार रही है, उसके मौजूद न होने की अवस्था मे, उसको अपनी स्मृति मे ला सकती है। ज्ञान-तन्तुओ का कार्य दर्शन और स्मरण दोनों ही अवस्थाओं मे एक-जैसा है। अन्तर केवल इतना है, कि दर्शन मे तो उत्तेजना (stimulus) बाहरी दुनिया मे उत्पन्न होती है, किन्तु स्मरण मे वह स्वयं इन्द्रिय-केन्द्रों म इच्छा-शक्ति की प्रेरणा से जन्म पाती है।

दर्शन की अपेक्षा स्मरण हल्के और रसहीन क्यों होते हैं? इसका यही एक कारण है कि दर्शन में तो पदाथ स्वय उपस्थित होता है, जो इन्द्रिया को लगातार उत्तेजना देता रहता है, किन्तु स्मरण मे यह बात नहीं है। इसके अतिरिक्त पदार्थ, हर्ष और विषादमयी भावनाओं को दर्शक के हृदय म

जागृत करने की भी योग्यता रखता है । किन्तु स्मरण स्मरण ही माने गये हैं और इस हालत में वे दुःख-सुख कुछ पहुँचाने में समर्थ नहीं हैं ।

नाड़ियों के (पौद्गलिक) संयोग (groupings) अपने आप बन जाते हैं । कुछ नाड़ियाँ तो पहले-पहले पदार्थ का आभास मन तक ले जाती हैं, जैसे कि बिना सँवारी हुई गुड़िया का । इसके बाद अन्य आभास, जैसे कि सँवारने का क्रम चलता है, होते जाते हैं । इस ढंग से ही विभिन्न संयोग बन जाते हैं, जो उपरान्त पुनरावृत्ति के साथ परस्पर अधिकाधिक गहन होते जाते हैं । अस्तु, इस प्रकार नाड़ि-तन्तुओं के आन्तरिक छोरों (terminals) के बने हुए संयोग मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में क्रियात्मक-नोड की कुञ्जिया का काम करते हैं । बस, जहाँ उनमें से एक दबाया गया कि वह चट हलन-चलन करके दर्शन की प्रतिक्रिया को उपस्थित कर देता है और इस प्रकार चेतना में उसी तरह के भाव को जागृत कर देता है । इसी ढंग पर स्मृतियाँ सुरक्षित रक्खी जाती हैं, और उनसे स्मरण भी हो जाता है ।

दर्शन में कुछ अधिक तीव्र रूप में जब पुद्गल का प्रवेश (penetration) होता है तब वासनायें impulses बनती हैं । दर्शन में तो उपयोग केवल ज्ञाता-रूप cognitive) है, स्वाद चखनेवाले (appreciative) के

रूप में नहीं है। वह बाहरी जगत् के पदार्थ के स्वभाव को जानता-भर है—कि वह काला है या गोरा, नरम है या सख्त, खट्टा है या मीठा इत्यादि । वह अभी उसका मज़ा चखने के लिए आगे नहीं बढ़ा है । किन्तु जब यह एक कदम आगे बढ़ता है, और अपने 'अवयवों' को आनेवाली उत्तेजना के लिये और भी अच्छी तरह खोल देता है, तब वह यह जान लेता है कि इसका स्वाद सुखमय है या दुखमय। तब वह ऐसे शब्द कहता है कि 'मैं इसे चाहता हूँ', 'मैं इसे नहीं चाहता हूँ', इत्यादि । दूसरे शब्दों में इस को यों कह सकते हैं कि दर्शन में बाहरी उत्तेजना केवल चेतना के द्वार पर धक्का-भर लगाती है, और अनुभव में वह और भी भीतर बढ़ जाती है। एक दशा में सम्बन्ध केवल सतह से है, किन्तु दूसरी में गहन है। अब यदि कोई इन्द्रिय-उत्तेजना प्रिय है, और सांसारिक आत्मा उसकी बारबार तीव्र कामना करता है, तो एक तेज़ आकांक्षा मन में उत्पन्न हो जाती है, जो मरण के बाद भी कायम रहेगी, यदि वह ज्ञान अथवा आत्मा संयम द्वारा नष्ट न करदी जाय।

इस प्रकार आत्मा और पुद्गल दोनों ही मिलकर वासना को जन्म देते हैं । दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध में वे ऐसा नहीं करते। इच्छा पूर्ति से आकांक्षाओं की शक्ति बढ़ती है, जिसका अर्थ आत्मा में पुद्गल का बढ़ना है। पौद्गलिक प्रभाव के बिना उनका बनना असम्भव है । अनुभव चाहे

सुख-रूप हो, चाहे दुःख-रूप, उसमें मन में राग या द्वेष-रूपी आकांक्षा उत्पन्न होगा। यदि आत्मा से पुद्गल बिल्कुल अलग कर दिया जायगा, तो इस आकांक्षा का भी सर्वनाश हो जायगा।

मृत्यु के समय नाड़ियों के यत्न और पुतलियाँ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु वासनाओं या आकांक्षाओं को आत्मा अपने नये 'जीवन' में ले जाती है। सब प्रकार की वासनायें—चाहे वह सामान्य स्वरूप की हों, और चाहे विशेष को सामान्य रूप में (जैसे किसी व्यक्ति के लिये प्रेम की वासना) धारण किये हुए हों—इसी कारण से मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा के साथ बनी रहती हैं। इसका कारण कि, हम अपने पिछले जीवन की घटनाओं को याद नहीं कर सकते, विशेष बाहरी उत्तेजना का अभाव है, जो हमारी पुरानी सोई हुई वासनाओं को जागृत करने के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही मृत्यु के पश्चात् हमारे नये जीवन के नये-नये संसर्ग हमारे लिये विशेष आवश्यक हो जाते हैं, जिनके कारण पिछली बातों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। पुरानी आकांक्षायें दबी हुई आग की तरह रह जाती हैं, जो ज्ञान और अनुभव की वृद्धि से कालान्तर में नष्ट भी हो सकती हैं। परन्तु पिछले जन्म के किसी पदार्थ के नजर पड़ने पर वह फिर ताजी हो सकती हैं—यदि कोई ऐसा पदार्थ

दिखाई दे जावे, जो हृदय में बहुत तेज आन्दोलन उत्पन्न कर सकता हो।

इस प्रकार हम अपनी आदतें और वासनाये अपने साथ पिछले जीवन से लाते हैं। ये मृत्यु के बाद अकानाओं या इच्छाओं के रूप में रहती हैं, ज्ञान के रूप म नही। अविभक्त आत्म-द्रव्य उन मन में व्याप्त रहता है, और वे एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए अस्थिर-ज्ञान अर्थात् मनोविकार क तौर पर बाहरी दुनिया की चीजों से अपनी कामना पूरी करने की चिन्ता में रहती हैं। उनका अस्तित्व बाहरी पदार्थों के ज्ञान के लिये जरूरी है। उनके बिना आत्मा में किसी वस्तु को जानने और लेन की इच्छा ही नहा होती और आन्तरिक चेतना के क्रियाशील होने के अभाव म इन्द्रिय ज्ञान का होना भी असंभव हो जाएगा।

१६—स्वप्न और स्वप्नवत् अवलोकन

स्वप्न तीन भागो के बने होते हैं—

(१) दृश्य रूपी पार्ट

(२) स्वप्न में भाग लेनेवाले अर्थात् पार्ट करने-वाले (ऐक्टर-गण)

(३) उद्देश्य (किसी इच्छा की पूर्त्ति)

इनमे से पहले भाग का निश्चय उत्तेजना से होता है। जैसे कि शीत लगने की इन्द्रिय-उत्तेजना ठंडे मुल्कों के

दृश्य—वर्षा का गिरना आदि—उपस्थित करेंगी।

दूसरे भाग का निर्णय व्यक्ति के मुख्य विचारों से सम्बन्ध रखनेवाले खास-खास व्यक्तियों से होता है, अर्थात् अवशेष जागृत अवस्था के विचार के भाग से जो इच्छा को प्रचालित कर सके।

तीसरा भाग स्वप्न के लिये वास्तविक शक्ति ही है, क्योंकि एक सक्रिय वासना के बिना मानसिक प्रयोग चालू नहीं रह सकते हैं।

इन्द्रिय-दर्शन (उत्तेजना) स्वप्न के लिये प्रारम्भिक पड़ी है। यह चाहे बाहरी कारण से हो, चाहे शरीर के भीतर से उत्पन्न हो। इसके उपस्थित होने पर एक मानसिक वासना इस पर अपना अधिकार जमा लेती है। साधारण तया यह वासना उनमें से कोई होती है, जो जोरदार होती हैं, किन्तु जो दबा दी जाती हैं। तब उस सुषुप्त दशा के उपयोग से शीघ्रगामी विचारों की एक धारा उत्पन्न हो जाती है। स्वप्न में ऐक्टर वही होते हैं, जो सोनेवाले के विचार में इस जमाने में प्रधान रहे हैं और जो स्वप्न-सम्बन्धी वासना की पूर्ति में भाग ले सकते हैं। किन्तु उनकी वेष भूषा, उत्तेजित इच्छा के प्रारम्भ से ही दबा दिये जाने के कारण, साधारणतः बिगड़ी हुई होती है।

धर्म सम्बन्धी स्वप्न की भाँति के दृश्य (visions) भी इसी ढंग से दर्शन में आते हैं। हाँ, उत्तेजना या

इच्छा जो विचार धारा का मूल है, शारीरिक नहीं बल्कि एक उगती हुई धार्मिक कामना होती है। कभी-कभी शारीरिक उत्तेजना और कभी-कभी सम्भवत उस नैतिक कामना की गहनता ही, मानसिक धारा को सक्रिय बना देगी। अचकृत रूप इसी कारण उत्पन्न होगा कि मन को कवि कल्पना म व्यस्त रहने की आदत है।

१७—पहचानना

ज्ञान एक चेतना सम्बन्धी वस्तु है। इसका भाव एक चैतन्य दशा का है, जिसको एक व्यक्तिगत चेतना अनुभव कर रही है। जानने की क्रिया मे सज्ञान चेतन वास्तव म अपने को ज्ञाता के रूप मे अनुभव करती है। ज्ञान का अर्थ इससे भी अधिक व्यापक है, जितना कि भाव इस कथन मे गर्भित है कि—"यह चीज (मान लीजिये नारगी) है।" वास्तव म ज्ञान इस बात को प्रकट करता है कि मैं उस चीज को जानता हूँ—अर्थात् मैं नारगी को देखता हूँ। "मैं" का ज्ञान स्वयम् अपने लिये साफ तौर से बहुत ही कम पाया जाता है। मुख्य स्थान ज्ञेय पदार्थ को ही मिलता है। यही हालत हर्ष और विषाद की भावनाओं के सम्बन्ध म है। ऐसा नहीं है कि हमे उनका ज्ञान इस प्रकार होता हो, मानो हमारा उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। हम उन्हें जानते हैं, क्योंकि

सचमुच उनका रंग हम पर पड़ा होता है। जब कभी कोई पशु कष्ट में व्याकुल होता है, तो उसकी व्यथा का सचेतन भाव यही होता है कि "मैं कष्ट में हूँ।" अतः ज्ञान, दर्शन और भावनाएँ अप्रत्यक्ष रूप से उसी जानने वाली महानता को प्रकट करती हैं, जिसमें उत्पन्न होती हैं और जिसमें वह जानी जाती है। स्मृति भी इस नियम से बरी नहीं है क्योंकि स्मृति में भी 'मुझे याद है' का अप्रत्यक्ष ज्ञान विद्यमान है। स्पष्ट रूप से इसका यही अर्थ है कि मुझे याद पड़ता है कि मैं जानता था। 'पहचानना' (recognition) का शाब्दिक अर्थ किसी पदार्थ को दूसरी बार जानना है। इसका आधार स्मरण-शक्ति है। स्मरण-शक्ति या तो सादृश्य के अनुसार होती है, अथवा स्थानीय सम्बन्ध के अनुकूल। जब मन किसी खास प्रकार के रूप (गुण) में रुचि प्रकट करता है तो सादृश्य पहचानने की क्रिया को व्यक्त करती है, और जब मन किसी वस्तु के वातावरण में अनुराग रखेगा, तो स्थानीय सम्बन्ध ही उसका पथ प्रदर्शक होगा। दूसरे शब्दों में कहें—जब हम किसी सामान्य विचार का खयाल करते हैं, तो वैसी ही स्मृतियाँ याद पड़ती हैं, किन्तु जब हम किसी खास वस्तु पर अटक जाते हैं तो उस वस्तु के आस-पास की चीजें और उसके संयोग नजर के सामने आ जाते हैं।

संयोगों के सादृश्य का बनाव पहले पहले मानसिक वास-

नाओं का कार्य है, क्योंकि सभी मानस्य सामान्य गुणों-द्वारा ही जाने जाते हैं। उदाहरण के रूप में, हम पहले इस बात को, कि पदार्थ सफेद रंग का है, सामान्य सफेद ज्ञान के द्वारा जानते हैं। फिर बाद में सफेद रङ्ग के भेदों को देखते हैं। यह सब वासनाएँ मन के चक्षु-दर्शन-सम्बन्धी भाग में इकट्ठी रहती हैं। उनके क्रियाशील होने का एक ही केन्द्र है, और जब कि साधारण सफेदी उन सब में एक-सी है और शुरू में ही जाँच ली गई है तो उसके भेद और रूपान्तर स्वभावतः उसके चारों ओर एकत्र होंगे। नवीन वासनाएँ भी चाहे वह सादी हों या संयुक्त किसी प्राथमिक, सामान्य केन्द्र के गिर्द ही इस कारण से इकट्ठी होंगी।

स्थान-विषयक सम्बन्ध पहले ही अनुभव में आता है। किन्तु ध्यान के इन्द्रिय-स्थान के एक भाग पर लग जाने के कारण वह गौण हो जाता है। अतः वह ध्यान की विरक्ति से ही उत्पन्न होता है। पूर्व-परिचय का भाव इस कारण से उत्पन्न होता है, कि स्मरण द्वारा उपस्थित किया हुआ ब्यौरा पदार्थ में पाया जाता है। जानने में ब्यौरा पदार्थ में प्राप्त होता है, पहचानने या याद करने में वह मन से उत्पन्न होता है, और पदार्थों में मुकाबला करने पर ठीक मिलता है। इसलिये जितनी ज्यादा बातें मुकाबला करने पर पदार्थ में पाई जायगी, उतना ही ज्यादा जानकारी का भाव होगा।

पहचानने की प्रारम्भिक क्रिया केवल बाहरी दुनिया के किसी पदार्थ को एक मानसिक वासना द्वारा जान लेना है। दूसरी अवस्था मन द्वारा ब्योरे का समर्थन होने पर प्राप्त होती है। जानकारी की भावना बहुत करके गहन हो जाती है, यदि वस्तु ऐसी है जो याद करनेवाले व्यक्ति के दिल में तीव्र राग या द्वेष उत्पन्न कर सकती है। किन्तु यह जानकारी की भावना भी पूरी तरह पहचान लेने का चिन्ह नहीं है, जैसे कि पहचान सम्बन्धी भूलों में स्पष्ट है—खासकर पति पत्नी जैसे निकट-सम्बन्धित लोगों की भूलों में।

पहचानने का मुख्य चिन्ह सम्भवतः सादृश्य के मिलान का वह स्फुरण है, जो स्मृति के आन्तरिक और बाह्य दुनिया के पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले पौद्गलिक आन्दोलनों के सम्मिलन से अनुभव किया जाता है।

१८-विचारों का ताँता।

विचार किसी एक मानसिक वासना की प्रेरणा के कारण उत्पन्न होता है। वासना चनना की विपयाशक्त दशा को कहते हैं। अतएव वन्धनों का समूह ही मानसिक वासनाओं का आधार है। विचारों का ताँता मानसिक दशाओं (अर्थात सकल्प या चन्द मिटने वाले दर्शन रूपी ज्ञानों) की लड़ी है। यह उस वक्त तक जारी रहता है जब तक उद्देश्य प्राप्ति सुलभ न जान पड़े अथवा उस समय तक जब कि यह क्रिया दूसरी वासना

से उत्पन्न होनेवाले विचार-क्रम से अथवा शारीरिक क्रिया मे या नींद की बेहोशी से बन्द न हो जाय।

सकल्प और बनते-बनते मिट जानेवाले दर्शन-रूपी ज्ञान आन्तरिक उत्तेजना (stimulus)-द्वारा मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय की सक्रिय-सहायता मे पुन जागृत किये जाते हैं। घटनों (वस्तु-सयोगों) का अस्थिर होना, और उनके हलन-चलन, आत्मा-द्वारा भूतकाल मे अनुभव की हुई चेतन-दशाओं को जागृत कर देता है। यदि मन उत्तेजना के गुण पर ही अटक जाये, तो वैसे-ही दृश्य याद पडते हैं। यदि वह अनुभव के बाहरी वातावरण पर ध्यान दे, तो स्थानीय-सम्बन्ध स्मृति के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगा।

विचार दर्शन के किसी भी केन्द्र-द्वारा नहीं किया जा सकता। वह केवल सामान्य-भावों द्वारा किया जाता है। जो कि मन के केन्द्रीय स्थान में उपजते रहते हैं। दर्शन-सम्बन्धी केन्द्र तो केवल उपस्थित असली पदार्थों से सम्पर्क रखते हैं। उनका सम्बन्ध सामान्य सकल्पों से नहा है।

१६–सयम (निवृत्ति)

चेतना का सक्रिय-यन्त्र प्रकाश की वह छोटी-सी किरण है, जिसे सज्ञानता (उपयोग) कहते हैं। वह एक है और विभक्त नहीं की जा सकती। तो भी वह व्यक्ति की सभी

उत्तेजनाओं में सब ठौर बटी हुई है। वह आत्मा की ही एक अपेक्षा है, जो अविभक्त है और जो उसकी प्रत्येक आकांक्षाओं और वाञ्छाओं के साथ उपस्थित है। वह सारी इन्द्रिय-रचना में अत्यन्त गहन सचेतन बिन्दु है, और अपने निजी ज्ञान से वह दमकता और चमकता है, यद्यपि वह अभी वासनाओं के असर से मुक्त नहीं हुआ है। वह उधर ही को मुड़ जाता है, जिधर को वासनाएँ उसे ले जाती हैं। मन की तत्कालीन मुख्य आकांक्षा उस पर अपना काबू जमा लेती है। दूसरी वासनायें तब अपने आप धीमी पड़ जाती हैं। क्योंकि, ध्यान का कार्य एक-रूप है, जो कि केवल एक बिन्दु है।—न कि बिन्दुओं का पुञ्ज।

किन्तु ध्यान में जान-बूझकर किन्हीं भी वासनाओं के उपद्रवों को रोकने की शक्ति है, जब वह उनके साथ उनके बहाव के रुख पर बह जाने के लिये तैयार न हो। वह चाहे तो अपने को बाहरी दुनिया की तरफ से बिल्कुल हटा ले, और अपने स्वभाव का अध्ययन करने में ही मग्न हो जाए। इस दशा में बाहर की ओर झुकी हुई कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकेगी। किसी विषय में—चाहे वह बाहरी पदार्थ हो—गहन-तन्मय होजाने का परिणाम इन्द्रिय-जनित क्रिया का अभाव है। हाँ, जो इन्द्रिय स्वतः उस पदार्थ से सम्बन्धित है—वह इस अभाव में नहीं आती। पालियामेण्ट के, अथवा अन्य विख्यात

व्याख्यानदाता—जब सभाओं में जोश से भरे हुए—धारा-प्रवाह भाषण देने में तन्मय होते हैं, तो उन्हें शारीरिक कष्ट का तनिक भी ध्यान नहीं होता। इस सब का कारण सचेतन जीवन की एकाग्रता है, जो केवल चित्त की एकाग्रता द्वारा कार्य करती है और कर सकती है।

विरोधी वासनायें या क्रियायें—जैसे कि, चुपचाप खड़े रहना और भागना—वे भी जब होती हैं, तो एक दूसरे के काम में बाधा डाल देती हैं। क्योंकि, कोई व्यक्ति दो विरोधी कार्य एक समय में नहीं कर सकता। विचार और कार्य का विरोध बिल्कुल स्पष्ट है। इन्द्रियों के कार्य पर उसके प्रभाव का हाल देखा जा चुका है, किन्तु उसका प्रभाव हमारे ज्ञान पर भी पड़ता है। वासनाओं में लिप्त सामान्य सङ्कल्प (ideas)-जो आत्मिक शक्ति की इच्छा के आधीन होने की दशा में आशाओं के रूप में पाये जाते हैं—ध्यान के विचार में लवलीन होजाने के समय अस्थिरता-रहित हो जाते हैं। अङ्गरेजी भाषा के रिफ्लेक्शन, (reflection) शब्द का (जो 'रि'=वापस और फ्लैक्सियो' झुकना, धातुओं से बना है—) शब्दार्थ के अनुसार कथन करें, तो जीवन की भावनाओं का प्रवाह अपने ऊपर लौट पड़ता है, और ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान हमारी इच्छाओं द्वारा ही द्रवित होकर प्रवृत्ति-मार्ग में लग जाता है। और वही विचार द्वारा सकल्प भावों मे बदल जाता है।

स्मृति का अन्तिम रूप, जो नाडियों के सम्बन्धों और सयोगों से स्वतन्त्र है, और जिसको बाहरी उत्तेजना की जरूरत नहीं है, वह भी वैयक्तिक अनुभवों को सामान्य रूप मे धारण करता हुआ वासनाओं में ही बना रहता है। वह विचार द्वारा जीवन प्रवाह को स्थिर करके पुन स्मरण किया जा सकता है।

जब वासनायें बिल्कुल नष्ट हो जाती है, और आकाँक्षाओं के उपद्रव हटा दिये जाते हैं, तो वह सब ज्ञान जो इस समय पुद्गल से ढका हुआ है, और वैयक्तिक आकाँक्षाओं मे अस्थिर हो रहा है-स्थिर हो जाता है और सदा के लिये प्राप्त हो जाता है। तब आत्मा अस्थिरता की तडपन से मुक्त हो जाता है, और स्थिरता को प्राप्त होता है। क्योंकि आत्मा और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिये ज्ञान की स्थिरता वास्तव में आत्मा की ही स्थिरता है।

२०—क्रिया के कल पुर्जे

इच्छानुसार क्रिया की कुञ्जियाँ (levers) मनरूपी केन्द्रिय इन्द्रिय के की बोर्ड (keyboard) के द्वारा व्यवहार मे आती हैं। वे जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे ही कर्मेन्द्रियों की नाडियों के छोरों मे बन जाती हैं। अपनी चुभनवाली वासनाओं (संज्ञाओं) से प्रेरित होकर बालक बेचैनी की दशा मे पड जाता है। यह बेचैनी की तडपन उसके शारीरिक अवयवों तक

फैल जाती हैं। और वह जल्दी ही हाथ, पैर और मुँह की उपयोगी क्रियाओ के तरीके और भेद जान जाता है। इच्छा क्रियाओं के मध्य में कर्मेन्द्रियों की नाडियों के आन्तरिक संयोग बन जाते हैं, और समय बीतने पर मन के मुख्य दफ्तर में एक कार्यकारी की-बोर्ड बन जाता है।

शरीर मे आत्मा ऐसे नहीं रहता, जैसे एक किराये दार मकान में रहता है। और न वह शरीर मे घूमने के लिये स्वतन्त्र है। वह पुद्गल में बे-तरह कठिन तौर से बँधा हुआ है, और अपने कैदखाने में जरा भी हिल जुल या डोल नहीं सकता। इस तरह पर कर्म इन्द्रियो के तन्तुओ के अन्दरूनी सिरो से बँधा होने के कारण ही यह बात है, कि इच्छाओ से बँधी हुई आत्मा की प्रत्येक वास्तविक क्रिया (केवल विचार की हरकत नहीं) एकदम शरीर मे कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रकट हो जाती है। इच्छा के बल प्रभाव क्रियात्मक बोर्ड की चाबियों पर पडकर हाथ पैर आदि चलाने को समर्थ होते हैं, जिससे कि इच्छित क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।

कार्य दर्शन का परिणाम है। चाहे वह रागयुक्त हो अथवा द्वेषयुक्त। वह चाहे अनिच्छित और अवाञ्छनीय वस्तु के हटाने के लिये हो, अथवा इच्छित और वाञ्छित वस्तु को अति-निकट ला रखने के लिये। इच्छा-रहित शुद्ध दर्शन केवल उच्च कोटि के ऋषियों के लिये ही सम्भव है। जीवन

या निम्न रचनाओं—योनियों में, जिनमें केन्द्रीय मानसिक व्यवस्था (विवेक) नहीं होता, ज्ञान और कार्य का मार्ग बन्धन होता है। मार्ग को पसन्द करने का वहाँ सर्वथा अभाव है। मनुष्य एवं अन्य उच्च-योनियों में मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय के अस्तित्व से बहुत बड़ा फर्क पड़ता है। वे साधारण विवेक-जनित शारीरिक क्रिया से जिसकी आदत पड़ी हुई है, बाहरी वस्तुओं के साथ व्यवहार करते हैं। और वे आदत की लाचारी को लेकर उसके स्थान पर अन्य इच्छित उपायों को काम में लाने की भी योग्यता रखते हैं। सब से नीचे दर्जे की क्रिया वह है, जहाँ विवेक शून्य शारीरिक कार्य बाहिरी वस्तु के सम्बन्ध में हुआ करते हैं। यहाँ बहुत ही अस्पष्ट 'मानसिक विवेक', भोजन को पकड़ने अथवा खतरे में दूर भाग जाने के रूप में होता है। उस स्थिति में एक से अधिक क्रियाओं की सम्भावना रहती है। अब उपाय-रूपी कार्य स्थानीय नहीं रहता। उसमें कीड़े सम्बन्धी कल पुर्जे भी व्यवहृत हो सकते हैं। सवाल दशा में उत्तर विवेकपूर्वक इच्छानुसार दिया जाता है, शारीरिक निर्माण के साथ ही वह नहीं बना दिया जाता।

अपने आठ दल वाले कार्यकारी बाड़ के कारण 'आत्मा-एक ज्ञाता कर्त्ता रूप पिण्ड है। जो अपना मार्ग आप निश्चित करने में समर्थ है। अपनी ही संज्ञाओं से प्रेरित हुआ वह भोजन और संसार के उत्तम पदार्थों की खोज में

फिरता है। वह विचार करने के लिये स्वतन्त्र है, किन्तु कार्य करने में सदैव वैसा नहीं है। समाज का सदस्य होने के कारण उसे सामाजिक बन्धनों का भी पालन करना होता है, और कभी कभी औरों के पाशविक अत्याचारों के समक्ष भी झुक जाना पड़ता है। किसी अवसर पर वह ऐसी इच्छाएं करता है, जो कभी भी पूरी नहीं हो सकती। किन्तु तीव्र इच्छाएँ सहज में ही नहीं दबाई जातीं हैं। वे दबाव से दब तो जाती हैं, पर विकृत रूप में छिपी हुई बनी रहती हैं। उनके दबाव और विकृत होने से उनके नाड़ी-सम्बन्ध भी अछूते नहीं रहते हैं, और कर्मेन्द्रियों की नाड़ियों में भी खराबी फैल जाती है। इस प्रकार चेतना की सतह के नीचे बहुत गड़बड़ मच जाती है, जो कभी कभी खराब हालतों में पागलपन की सूरत भी धारण कर लेती है। इस विकार के चिन्ह व्यक्ति की व्यवहार-सम्बन्धी असम्बद्धता में भी पाये जाते हैं। इस तीव्र कामना-शक्ति की नीची की लहरों पर जागृत दशा में तो अधिकार रक्खा जा सकता है, किन्तु स्वप्न देखनेवाले मन की सुषुप्त दशा में उनको रोक रखना अति कठिन होता है। वे जरा-सी शक्ल बदल लेने से रोकनेवाली शक्ति के सामने से गुजर जाते हैं। यही कारण है कि स्वप्न अक्सर ऐसी इच्छाओं की पूर्ति के भाव को लिये होते हैं, जो दबा दी गई हों। यही कारण इस सम्बन्ध में भी है कि उक्त प्रकार के विकार रूपी

रोगी के रोगी स्वस्थ हो जाते हैं, तब उन्हें विचार की जन्म-दायिनी भावना की याद हो आती है, और तब उस सम्बन्ध में अपने दिल का हाल किसी अन्य व्यक्ति से कह डालते हैं। इसका खुलासा सरल है—अर्थात्, मानसिक दमन जो इस भय से किया जाता है कि दूसरे लोग क्या कहेंगे—उस क्षण नष्ट हो जाता है, जिस क्षण हृदय किसी के सामने हल्का कर लिया जाता है। और इसके साथ ही दोनों प्रकार के—अर्थात् ज्ञान और कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी-विकृत संयोग भी अपने जन्मदाता बल के नष्ट होने पर स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं

२८—सुख और दुःख

सुख तीन तरह का और दुःख दो तरह का है। तीन प्रकार का सुख यह है—१-शारीरिक, २-मानसिक और ३-आत्मिक। दो प्रकार का दुःख—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक है। आत्मिक दुःख कोई चीज नहीं है।

शारीरिक और मानसिक दोनों ही सुख एन्द्रियक ढंग के हैं। वे इन्द्रियों की प्रतिक्रिया पर अथवा इन्द्रियों की प्रतिक्रिया के स्मरण पर अवलम्बित हैं। यही बात दुःख के सम्बन्ध में है—वह या तो वास्तविक होता है अथवा काल्पनिक, अर्थात् विचार प्रवाह अथवा स्मृति के फलस्वरूप। इन्द्रियों के परे न सुख और न दुःख पहुँचने को समर्थ हैं।

आत्मिक सुख स्वतन्त्रता का (आत्म-स्वातन्त्र्य का) अनुभव करना है। वह तब अनुभव में आता है जब आत्मा पर से कोई बोझ उठ जाता है। वह एक तरंग है, इसलिये वह इन्द्रियों से पूर्णत स्वतन्त्र है। चिन्ता के बोझ और इच्छा के दवाव के दूर होने से वह उत्पन्न होता है। यदि इसके सम्बन्ध में मानसिक सकल्प उत्पन्न हो जावें तो वह मानसिक सुख में बदल जायगा। दुख और उसके रूपान्तर हमेशा ही शारीरिक या मानसिक होते हैं। वह या तो कोई बोझ है—जिसे ढोना पडता है या उसका मानसिक 'चित्र' है, अथवा मुलसी हुई आशाओं का दृश्य या विचार आदि हैं, जो उसको उत्पन्न करने में कारण हैं। स्वाधीनता के सुख के विरुद्ध मानसिक दुख सदैव विचारों या भावों-द्वारा उत्पन्न होता है। स्वाधीनता का भाव अर्थात् आनन्द, सब प्रकार के विचारों या भावों से नितान्त विलग है, और वह विशुद्ध चेतन-तरङ्ग या भावना-मात्र है।

यह विचारणीय बात है, कि सफलता का सदेश चाहे जितनी निकृष्ट भाषा मे कहा जाय, उसका स्वर (शब्द या आवाज) कानों के लिये कितना ही कटु हो, वह चाहे-जैसे मैले-कुचैले कागज के चिथडे पर लिखा जाय, स्याही भी गन्दी और भद्दी हो, सन्देश वाहक भी अयोग्य और अप्रिय हो—किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, उसके पाते ही उसी

क्षण आनन्द की भावना जागृत हो जायगी, जिस क्षण दिल में उसके सत्य होने का विश्वास हो जायगा। यह इसीलिये होता है कि नत्र जो सुन्दर वस्तुओं के देखने में आनन्द और असुन्दर चीजों से घृणा प्रकट करता है—आनन्द का स्थान नहीं है। वह इन्द्रिय-ज्ञान को ही जन्म दे सकता है। फिर व चाहे आनन्ददायक या प्रसन्नता-सूचक हो या नहीं। इसी प्रकार कान भी सुख के अनुभव कराने में कारण नहीं हैं यद्यपि वह सफलता के सन्देश को आत्मा तक पहुँचाने में सहायक-कारण है। कान का गुण यह है कि वह सरस, सुरीले, और सगीतमय स्वरों को सुनने में आनन्द और नीरस, कठोर, और कड़वी बातों को ग्रहण करने में रोष प्रकट करता है। किन्तु सफलता के सन्देश-वाहक की आवाज कितनी ही कठोर और अप्रिय क्यों न हो, तो भी उस सन्देश को सच मानते ही हृदय में आनन्द की भावना जागृत हो जायगी। बस, यही दलील (तर्क) इस बात को प्रकट करने के लिये काफी है कि सुख (स्वाधीनता) की भावना इन्द्रियों के ससर्ग के बिना स्वाधीन रूप में ही उत्पन्न होती है।

अतः व्यथा का सर्वथा नाश तथा उसको हटा देना ही सुख को प्रगट होने का अवसर देना है। यह सम्भव है कि ऐसा अवसर बाहरी कारणों से प्राप्त हो, जैसे कि किसी उद्योग में सफलता का मिलना, अथवा मानसिक त्याग से जैसे

उद्योग का बिल्कुल ही छोड देना। किन्तु उद्योग क दवा देने स सुख नहीं मिलेगा, क्योंकि व्यथा का दवा देना ठीक वह चाज नहा है, जो उसका नष्ट हो जाना ह। दवाने मे मानसिक उलझन से छुट्टी मिल सकती है, किन्तु उसे आत्मा का आन्तरिक-स्वभाविक सुख नहीं मिल सकता। यह तो व्यथा पुञ्ज के एकदम नष्ट हो जाने पर ही होता है, कि यह स्वाभाविक-सुख की लहर, जो अन्दर दवी पडी थी, एकदम उमड पडे। इस दृष्टि मे प्रत्येक वासना एक व्यथा पुञ्ज है। जब यह अपने पूर्ण प्रयोग मे होता है। तब दुख का अनुभव होता है, जो नि कृष्ट दशाओं म अति की सीमा तक पहुँच जाता है, और जब दुख को लहरों को रोकनेवाले कारण नष्ट कर दिये जाते हैं, तब आनन्द का अनुभव होता है।

इस प्रकार ज्ञानमय आत्मा अपने आन्तरिक स्वभाव में आनन्दमय भी है। वह सूक्ष्म पुद्गल के बोझ के नीचे दबा हुआ पडा है, जो कि इच्छा के-मुख्यत व्यथा के-साथ आता है। साहसपूर्वक इच्छा का त्याग करने, अर्थात् वैराग्य-दशा को पहुँचने पर इस ज्ञानमय द्रव्य को पुद्गल को बोझ मे मुक्त किया जा सकता है, जिसके कारण उसका ज्ञान घुट घुटकर आकाक्षाओं और परेशानी को पैदा करनेवाली वाञ्छाओं में बदल जाता है। पौद्गलिक ससर्ग के अतिरिक्त वासनाओं के लिये कोई आधार शेष

नहीं है। जिस क्षण वे पुद्‌गल का अशुद्धि से छुट जायँगी उसी क्षण ज्ञान-रूप हो जायँगी।

आत्मा का स्वाभाविक आनन्द-दशा को विगाडने के सम्बन्ध म व्यथा का प्रभाव याद रखने योग्य है। यह बात नहीं है, कि बड-बड उद्योग और उद्देश्य ही महान् व्यथाओं को उत्पन्न करते हों। एक छोटी-सी चीज—केवल लगोटी-ही—किसी को पूरा पूरा व्यथित बनाने के लिये, उसकी सुख-दशा को नष्ट करने के लिये, काफी है। इसलिये सच्चा सुख उसी समय मिल सकता है, कि जब सब इच्छायें हृदय से नष्ट होगई हों। इसका यही भाव है, कि जिन्होंने पुद्‌गल के संसर्ग से अपना नाता तोड लिया है, व अबाध और विना श्रम के आत्मा की स्वाधीन आनन्द वृत्ति का अनुभव करते हैं। उन पर न इच्छा, और न व्यथा अथवा पुद्‌गल का कोई प्रभाव पड सकता है।

आत्मा-सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु की तरह आनन्द भी एक असयुक्त (simple) अर्थात् अखड चीज है। वह टुकडों का बना हुआ नहीं है। और न वह पौद्‌गलिक अणुओं अथवा अन्य किसी प्रकार के अंशों का बना हुआ है। कोई भी हिस्से या टुकडे उसके सम्बन्ध में अनुभव नहीं किय जाते हैं। अविनाशी और अकृत्रिम होने के कारण वह उपस्थित तो हमेशा ही रहा है—परन्तु अप्रकट दशा में, पौद्‌गलिक संसर्ग म दवा हुआ। पौद्‌गलिक संसर्ग

का जरूरत ही इस बात के लिये है कि एक स्वाभाविक क्रिया को रोककर अप्रकट रख सके।

व्यथा-पुञ्ज का नाश मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में होता है। क्योंकि शरीर के अन्य भागों में पुद्गल का आवरण बहुत गहरा है, जो साधारण रूप से पूर्णत नष्ट नहीं किया जा सकता। और भी स्पष्ट शब्दों में यों कह सकते हैं, कि ध्यान में परेशानी की खिंचावट के ढीला होने के कारण मानसिक उलझन से छुटकारा मिल जाता है। इससे इस बात का भी खुलासा होता है कि ज्यों ही उपयोग किसी दूसरे पदार्थ के व्यथा पुञ्ज में सलंग्न होता है—त्यों ही आनन्द की तरंग नष्ट हो जाती है।

शारीरिक सुख अवयवों की स्वस्थ अवस्था का रुचिकर परिणाम है। अथवा वह बाहरी चीजों से उत्पन्न होता है। शारीरिक दुख ठीक इससे उल्टा है। यह दोनों ही असम्भव हो जायें, यदि आत्मा शरीर के बन्धन से छुट जाय। किन्तु सब प्रकार के शारीरिक संसर्ग के नष्ट होने से ही आत्मिक सुख की अनन्त-गुणी वृद्धि हो जायगी। कारण, सारे बखेड़े की जड़ शरीर ही है।

आत्मा एक द्रव्य है, जो अपनी पर्यायों का अनुभव करता है। जब यह पर्यायें रुचिकर होती हैं, तब वे सुख-रूपी होती हैं। और यदि ये अरुचिकर हुई तो उन्हें ही

दुख सहते हैं। जब बाहरी प्रभावों-द्वारा पर्यायों का होना बन्द हो जाता है, तो आत्मा स्वयं अपनी स्वाभाविक दशा का ही अनुभव करता है। उसकी निजी दशा भी तो सुख होनी चाहिये, नहीं तो तकलीफ़ें किस चीज़ में होंगी। जो पदार्थ अनुभव-शून्य हैं, वे किसी भी वस्तु का अनुभव करने के योग्य नहीं बनाये जा सकते। फिर वह सुख-दुख या आनन्द का क्या अनुभव करेंगे?

आत्मा की आन्तरिक स्वाभाविक भावना सुख रूप है, जो बाहरी बोझ के कारण दबा हुआ है। जब बाहरी बोझ थोड़े-बहुत हटा दिये जाते हैं, तो इस स्वाभाविक सुख की झलक—स्वतन्त्रता की तरंग-रूप में—दृष्टि पड़ती है। और जब वे बोझ बिल्कुल ही हटा दिये जाते हैं, तो आत्मा अपनी सनातन-स्वाधीनता की दशा में रह जाता है। जिस अवस्था का आत्मा उस समय अनुभव करेगा, वह आनन्द की कभी न ख़त्म होने वाली दशा होगी।

सभी बाहरी पदार्थ व्यथा के मूल-कारण हैं। इसलिये स्वभाव से आत्मा के लिये एक बोझा-मात्र हैं। उन्हें उठाया, सँभाला और बनाये रक्खा जाता है। और यदि वे खो गये, तो फिर उन्हें इकट्ठा किया जाता है। जब मन उन की तरफ़ से मोह-भाव को बिल्कुल हटा लेता है, तो आत्मा पर से उस के त्याग की मात्रा के अनुसार व्यथायें दूर हो जाती हैं। यदि बाहरी पदार्थों का बिल्कुल त्याग

कर लिया जाये, तो अधिक से अधिक सुख का अनुभोग प्राप्त होता है। बस, जिन्होंने अपने को त्याग में नितान्त पूर्ण बना लिया है, वे सचमुच सुखी हैं।

आत्मा-जैसे अखण्ड पदार्थ की आन्तरिक भावना को हम कैसे अनुमान करें ? उसके द्रव्य के एक गुण के रूप में। गुण चाहे बाहरी प्रभावों के कारण अव्यक्त और अक्रिय मय भले ही होजायँ, किन्तु वे सर्वथा नष्ट नहीं होते। जब वह सब दोषों से मुक्त होगा। तब शाश्वत सुख का गुण आत्मा के अनुभव में पूर्णतः प्रकट होगा।

इस प्रकार जो सुख शरीर और मन से स्वाधीन है, वह स्वयं आत्मा का स्वभाव ही है। जब वह पूर्णतः प्राप्त हो जायगा, तो अवशेष प्रकार के इन्द्रिय सुख सब नष्ट हो जायेंगे। क्योंकि उस वक्त इन्द्रिय-सम्बन्धी वासनाओं का अभाव होगा, और उन वासनाओं में जो ज्ञान के भाव गर्भित हैं--वह सब सामान्य या सामान्य रूपी विशेष ज्ञान बन जायेंगे।

मन रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में सुख और दुख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह केवल विचार का दफ़्तर है, दर्शन अथवा अनुभव का नहीं। हाँ, यह जरूर है कि वह इच्छानुकूल किसी भी इन्द्रिय अनुभव को जागृत अथवा जीवित कर सकता है।

वास्तव में बात यह है कि आत्मा सारे शरीर में

२२-इन्द्रिय-दर्शन के भेद

इन्द्रिय-दर्शन—अस्पष्ट और स्पष्ट दो तरह का होता है। अस्पष्ट और धुँधले प्रकार के दर्शन का अनुभव आँख को छोड़कर शेष सभी इन्द्रियों से होता है। ऐसे दर्शन क्षणिक होते हैं, और उपयोग-द्वारा वे स्थिर भी नहीं किये जा सकते। इस कारण उनका अन्वेषण भी नहीं किया जा सकता। और स्मृति द्वारा भी वह जागृत नहीं किये जा सकते। इतने पर भी वे निस्सन्देह सम्पूर्णत इन्द्रिय-दर्शन ही हैं, अर्थात मानसिक पर्यायों (दशाओं) के रूप में व अपूर्ण नहीं हैं।

इन्द्रिय-दर्शन (अवग्रह) भेद भाव की दृष्टि से बारह प्रकार के हैं। दर्शन एक पदार्थ का हो, चाहे अनेक का-चाहे वह सादृश्यमय समूह हो, और चाहे असादृश्यमय पदार्थ—चाहे थोडा (हलका) ढका हो अथवा बिल्कुल ही न ढका हो—स्थिर हो अथवा अस्थिर-मन्दगामी हो या तीव्र-गामी—वर्णन-योग्य हो, चाहे न हो।

मूल में बारह को चार से गुणा करने पर हमें अस्पष्ट इन्द्रिय दर्शन (अवग्रह) के भेदों की सम्पूर्ण सख्या अड़तालीस मिल जाती है, जिनका अनुभव आँख को छोड़कर बाकी इन्द्रियों द्वारा होता है।

स्पष्ट अवग्रह के भेदों की संख्या २८८ है। यह सख्या

इन्द्रियों की संख्या की अर्थात् पाँच इन्द्रिय और एक मन (५+१) का अवग्रह के भेद (१२) से गुणा करने और इस गुणनफल (७२) को पुन ज्ञान के 'आश्रमों' या 'कक्षाओं' की संख्या (४) से-जो बाहरी उत्तेजना के ज्ञान पर पूर्ण ज्ञान तक पहुँचने म उत्पन्न होती हैं—गुणा करने पर मिलती है । ये चार आश्रम या कक्षाएँ इस प्रकार हैं —

(१) केवल इन्द्रिय-स्पर्श (अवग्रह)

(२) ज्ञान की इच्छा-जब कि मन मानसिक ज्ञान के द्वारा बाहरी उत्तेजना के स्वरूप की परीक्षा करता है।

( ) परीक्षा द्वारा निश्चित स्वरूप ।

(४) और—तद्गीत ज्ञान की धारणा ।

इनमें स प्रत्यक 'कक्षा' एक भिन्न और स्वाधीन ज्ञान का द्योतक है और इस कारण यह एक-दूसरे से भिन्न है इस प्रकार ६×४×१२=२८८ किस्म हम स्पष्ट इन्द्रिय-स्पर्श का और ४८ भेद अस्पष्ट अवग्रह के मिलते हैं, जो मिलकर ३३६ होते हैं।

यह ध्यान म रखना चाहिये कि दूसरी कक्षा सम्बन्ध में मन में स्थिति मति प्रारम्भिक ज्ञान (अवग्रह) भिन्न प्रकार की है। यह प्रारम्भिक ज्ञान-अवग्रह+आन्तरिक ज्ञान का अंश है। जैसे मैंने एक आवाज सुनी—यह केवल

दर्शन-अवग्रह हुई। इसके बाद मैं सोचता हूँ—यह आवाज़ मेरे मित्र 'अ' की है, और फिर उसकी असलियत जानने को उत्सुक होता हूँ। यह खोज की अवस्था की कक्षा है। इसमें मैंने अपने मित्र की आवाज़ की मुख्यता ली है। अब प्रारम्भिक अवग्रह के साथ एक अंश आन्तरिक ज्ञान का भी लग गया। तीसरी कक्षा तब पहुँचती है, जब इस बात का निर्णय होजाता है कि यह आवाज़ मेरे मित्र 'अ' की ही है। ज्ञान अब बिलकुल स्पष्ट और साफ़ है। इसमें सम्भावना की पुष्टि निश्चित रूप से होती है। चौथी कक्षा में धारणा की नौबत आजाती है। ज्ञान अब 'अ'-सम्बन्धी संस्कारों के रूप में परिवर्तित होजाता है। और स्मृति-संगठन में स्थान पा जाता है।

२३–पाद्गलिक संयोग

शरीर में पुद्गल और जीव साथ साथ पाये जाते हैं। जीव अपने आप-इन्द्रिय-कर्त्तव्य को नहीं कर सकेगा। यद्यपि उस समय वह पूर्ण ज्ञान का अधिकारी और उसका भोक्ता-शक्ति की अपेक्षा से नहीं, बल्कि सचमुच-होगा। पुद्गल अचेतन है और अपने-आप कुछ नहीं जान सकता है। पुद्गल का संसर्ग जीव के लिये महा हानिकर है। और यही आत्मा को वास्तविक परमात्म-पद अर्थात् अमरत्व, सर्वज्ञता और स्वाभाविक-सुख के मिलने में बाधक है।

ज्ञाता-भोक्ता-रूपी शारीरिक पिण्ड के सभी कामों के लिये—चाहे वह ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हों, चाहे कर्मेन्द्रियों से—पौद्गलिक संयोग का होना सर्वथा आवश्यक है। पुद्गल के बिना ज्ञान और कर्म-इन्द्रियों की नाड़ियाँ और उनके विविध संयोग और शाखाएँ असम्भव होंगी। तब वहाँ न तो उपयोग होगा, और न विचारों का तारतम्य। उनके स्थान पर वहाँ एक साथ, एक ही समय में, सम्पूर्ण आत्मिक ज्ञान का उदय हो जायगा।

पुद्गल के बिना मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय का अस्तित्व भी असम्भव है। पुद्गल के अभाव में वासनाओं और चरित्र के भेद भी लुप्त हो जायेंगे। तब सब प्राणी एक-जैसे ही रह जायेंगे। वासनाएँ तब स्वयं सामान्य चेतना-रूप में बदल जायेंगी।

शारीरिक मानवीय शरीर जैसे ज्ञान- और कर्मेन्द्रियों के पिण्ड के साम्राज्य में, ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ जीव और पुद्गल दोनों के बिना काम चला लिया जाय। किन्तु जीव से पुद्गल को सर्वथा पृथक् कर देना सम्भव है। यह तभी सम्भव है, जब हम इन्द्रियों का दास बनाने वाले प्रलोभनों से अपने को प्रभावित न होने देवें, अर्थात् वासनाओं का पेट भरना बंद कर दें।

२४–सदाचार

"नेकी स्वय अपना पुरस्कार है।" यह उक्ति विरकुल सत्य है, क्योंकि मनुष्यों-द्वारा चाहे पुण्य का महत्व न भी माना जाय और पुण्यात्मा पुरस्कृत न हो, किन्तु वास्तव में इस का फल मिले बिना नहीं रहता। जो अपने को पाखण्ड और मिथ्यात्व से छुडा लेता है, वह सम्यग्दर्शन पाने के योग्य हो जाता है, और उसके साथ ही उसके सम्यग्ज्ञान का भी उदय हो जाता है। जो व्यक्ति अपने बुरे कषायों का अन्त कर देता है, उसे वह आत्मिक-निधियां मिलती हैं, जिनकी ठीक-ठीक कीमत परिमित शक्तिवाली बुद्धि नहीं कर सकती है। वस्तुतः जो अपने को कषायों और वाञ्छाओं से मुक्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शाश्वत, सुखी और अमर हो जाता है।

धार्मिक गुण कहीं से लाये नहीं जाते, वे तो हमारी आत्मा की बुरी आदतों के ठीक प्रतिपक्षी हैं, और अन्दर से ही अपने आप प्रतिरोधी बुराइयों के नष्ट होने पर प्रकट होते हैं—जैसे, ईमानदारी उसी समय एकदम प्रकट होती है जिस समय कोई व्यक्ति धोखा देना छोड देता है। किसी को यह सीखना नहीं पडता कि वह कैसे धर्मात्मा बने, किन्तु केवल उसे पाप से हटना पडेगा। यदि मैं क्रोध करना छोड दूँ तो तत्क्षण ही गम्भीर और शान्त बन जाऊँगा। मुझे इस

बात की आवश्यकता न होगी कि मैं गम्भीरता और शान्ति कहां बाहर से खरीदूँ या वैसे ही माँगकर ले आऊँ।

इस प्रकार समस्त धर्म उसके भाग में आ जाता है जो अपने को पाप से विलग करने के लिये तैयार हो जाता है, और यह हम जानते ही हैं कि आखिरकार धर्म अपने भक्त को क्या श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

२५—शरीर का निर्माण करने वाली शक्तियां।

हमारी वासनाओं और शारीरिक अवयवों द्वारा उनके पूर्ण करने की योग्यताओं का गहरा सम्बन्ध है। हाथ इच्छित पदार्थ को ग्रहण करने के लिये नियुक्त हैं, पैर इच्छित पदार्थ के पास तक पहुँचने अथवा शत्रु से दूर भाग जाने के लिये हैं। पेट भोजन को लेने और उसको पचाने के लिये है।

यह समान सम्बन्ध क्यों है? और कैसे है? यदि व्यवस्थापक शक्तियाँ स्वयमेव हमारी वासनायें ही नहीं हैं? वासनाएँ मृत्यु के बाद भी बनी रहती हैं। वे मृत्यु के साथ नष्ट नहीं हो जातीं। क्योंकि उनकी जड़ उस आत्मा के व्यक्तित्व में पैठी हुई है, जो अमर है। ये नियायुक्त आत्मनाएँ हैं और केवल क्रिया-हीन कूड़ा-कचरा नहीं हैं। वे तब भी अवश्य अपनी क्रिया करती रहती हैं जब गर्भस्थ जीव माता के पेट में होता है। किन्तु वह करती ही क्या होंगी

ठीक शक्ल म ढाल देने में भाग लेती हैं। इस प्रकार हम प्रारम्भ से ही शारीरिक बनावटों को वैयक्तिक इच्छा (will) के अधीन पाते हैं, क्योंकि वही व्यक्तिगत-वासनाओं और चरित्र का आधार है।

नवीन शरीर और उसके अमर-मालिक आत्मा के पूर्व जीवन में दो चीजें का भिन्न हैं। एक तो आत्मा है, जो उसमें बन्द है, और दूसरी उसकी वासनायें हैं, जिनको आत्मा अपन साथ इच्छाशक्ति (will) के रूप में लाया है। पिछले जीवन के पुराने नाडियों के सम्बन्ध और अन्य सब बाते अब सदा क लिये नष्ट हो गयी हैं। केन्द्रीय मानसिक अवस्था भी, यदि पूर्वजन्म से साथ आई हुई वासनाये उसे फिर स न बनने द, तो अब नहा रहेगी। इस अवस्था में वह उन बातों की याद भी न कर सकेगा जिनको वह पहले आसानी से याद कर लेता था। ऐसी हालतों में भी जहा कि मन फिर से बना हो, पुरानी स्मृतिया को याद कर लेना असम्भव है, क्योंकि पिछले नाडियों के सयोगों का अब अभाव है जो वासना को दर्शन केन्द्रों मे जोड सकें। ऐसी हालत में बाहरी दुनिया से उत्तजना मिलने के अभाव मे मानसिक वासनायें भी स्वय सूख जायेंगी। मतलब कहने का यह है कि उन पुरानी मन्द पडी हुई वासनाओं को पुन जागृत करना असम्भव होगा जो बाहरी दुनिया से उत्तेजना न पाने के कारण मन्द हो गई हैं। हाँ, किसी बाहरी कारण

के द्वारा यह तीव्रता के साथ उत्तेजित कर दी जायँ, कि जिससे चेतना (उपयोग) भड़क उठे, तो दूसरी बात है। ऐसे अवसर तब ही आ सकते हैं जब कोई ऐसा पदार्थ जो गत-जीवन में आत्मा में तीव्र-राग द्वेष को भड़काया करता था फिर से सामने आ जाय। क्योंकि स्मृति के नाडी तन्त्र के अभाव के माने यह नहीं हैं कि आत्मा में से जानने-देखने की शक्ति का ही अभाव हो गया है? पुराने क्रियात्मक यन्त्र के नष्ट होने का परिणाम बस इतना ही होता है कि आत्मा अपने दर्शन विषयक केन्द्र में पुरानी स्मृतियों को जागृत नहीं कर सकेगी। बटनों और कुञ्जियों के एक बार फिर से दर्शनोपयोग द्वारा बनाये जाने की जरूरत है। किन्तु ज्ञान तो उपस्थित ही है और उसको नये सिरे से बनाने की जरूरत नहीं है।

पिछले जीवन का ज्ञान उस हालत में भी होजाता है जब कि तपश्चर्या के प्रयोग से ज्ञानावरण का पर्दा पतला अथवा नष्ट कर दिया जाता है। (अन्यथा) अन्य अवस्थाओं में ससारी आत्मा के लिये पूर्व भव की बातें याद कर लेना असम्भव है।

मनरूपी केन्द्रीय इन्द्रिय के अभाव का कारण व्यक्ति के उस जीवन व्यवहार में मिल सकता है जिसको उसने विताया है। ऐसा मालूम होता है कि मनरूपी केन्द्रीय इन्द्रिय की प्राप्ति इस बात का चिन्ह है कि आत्मा ने एक

तो जिन प्राणियों की इन्द्रियों की चलायमान् होने से रोक लेने की योग्यता है, उन्होंने उसको पिछले जन्म में अभ्यास द्वारा प्राप्त किया होगा। उन्होंने अवश्य पिछले जन्म में इन्द्रिय-दमन किया होगा, और वे जो अपनी आकाङ्क्षाओं का आप अपने आधीन नहीं कर सके, और जो अपने कषायों एव वासनाओं के गुलाम बन गये हैं, उन्हें अवश्य ही अपने मनरूपी यन्त्र से आगामी-जीवन में हाथ धो-बैठने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। वे अपना जीवन इन्द्रियों में बिताते हैं। और इन्द्रियों में ही वे दूसरे जन्म मे अपना जीवन व्यतीत करेंगे। वे मन की (विवेक युक्त) जिन्दगी बिताते ही नहीं, और मन (अर्थात विचार के मुख्य-यन्त्र) की फिर उन्हें दूसरे जन्म में जरूरत न होगी।

मन की केन्द्रीय इन्द्रिय के स्थान मे आत्मा कर्मेन्द्रियों के लीवरों (पुर्जों) मे बँधा हुआ है। किन्तु इसका और की-बोर्ड के ज्ञान-इन्द्रियों-सम्बन्धी बटनों और कुञ्जियों का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। नीची श्रेणी के केन्द्रों में ही इन्द्रिय-स्पर्शन और क्रिया का सीधा-सीधा सम्बन्ध है। उपयोग की उच्चतम अवस्था पर मन की विवेक-शक्ति प्राप्त है। वह एक क्रिया के स्थान पर दूसरी को कर सकता है। और चाहे, तो कार्य को बिल्कुल स्थगित कर दे। इसलिये मन रूपी केन्द्रीय क्षेत्र मे इन्द्रिय-स्पर्शन और कार्य में एकदम सम्बन्ध होने का अवसर नहीं

है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति पाशविक जीवन बताए, अथवा 'खाओ पियो, मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त-वाले जीवन में जा गिरे तो उसके सम्बन्ध में इन्द्रिय उत्तजना और कार्य का सीधा, सम्बन्ध अवश्य स्थापित हो जायगा, और विवेक की स्वतन्त्रता जाती रहेगी। उत्तेजना और क्रिया म इस प्रकार मे सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से विवेक यत्र कार्य म न आने के कारण निष्क्रिय और मोटे पड जाएँगे। ऐसी अवस्था में इस बात की आशा व्यर्थ है, कि मृत्यु के बाद आत्मा के नये शरीर में विचार यत्र (मन) पुन उत्पन्न हो। ऐसा व्यक्ति तो पीछे पशु-ससार म जा पडेगा। एक और प्रकार क भी जीव हैं, जो विचार यन्त्र को काम म तो लाते हैं, किन्तु सिर्फ दूसरों को दुख और तकलीफ पहुँचाने क लिये ही। वे दूसरों को परेशान करने के लिए नये-नये उपाय ईजाद करते रहते हे, और अपने इस काम में बडा हर्ष मानते हैं। वे स्वभावत इस मुख्य-यत्र को अपने दूसरे जन्म में केन्द्री-भूत कर सकेंगे, किन्तु उनकी वासनायें बड़ी भयानक होगी, और उनकी आत्मा बहुत ज्यादा पुद्गल के ससग म आ फसेगी। ये ही वे जीव होंगे, जिनके भाग्य में पीड़ा और दुख-भरे स्थानों में—जिन्हें नर्क कहते हैं और जहाँ से सौभाग्यवश एक नियत काल में निकलना सम्भव है—जाना बदा है।

व व्यक्ति, कि जिनकी वासनाएँ इन्द्रियानुकूल कार्य

करने में स्वाधीन नहीं हैं, अवश्य ही मृत्यु के बाद मनुष्य-योनि में जन्म लेंगे। और जो महानुभाव तपश्चर्या आदि के द्वारा उनको नष्ट करने के कार्य में व्यस्त हैं, वे और भी सुखद स्थानों—स्वर्गों—में जाएँगे जहाँ सुख तो है, परन्तु खेद है, कि वह चिरस्थायी नहीं। निर्वाण—अर्थात्, वह आनन्द-धाम, जहाँ से कोई कभी नहीं लौटता और न लौटने की चाह करता है, तब मिलता है, जब सब प्रकार की वासनाएँ नष्ट कर दी जाती हैं। तब किसी प्रकार की भी इच्छाएँ आत्मा में बाकी नहीं रहती हैं और ज्ञान इच्छा की तड़पन से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है।

जीव और पुद्गल के संसर्ग में आने के लिये निम्न लिखित दो नियम लागू हैं —

(१)—जीवात्मा में आनेवाले पुद्गल की मिकदार मन, वचन और काय की क्रिया पर अवलम्बित है, जिनके द्वारा हम अपने वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति किया करते हैं।

(२)—आत्मा के साथ पुद्गल के एकम-एक होने की घनिष्टमात्रा का परिणाम वैयक्तिक कषायों और इच्छाओं के ऊपर निर्भर है, जिसमें सब से खराब परिणाम वासनाओं के विशेष गहन उद्वेग के फलरूप है।

जब वासनाओं का पोषण नहीं किया जाता, और दृढ़ता से उन्हें दबा दिया जाता है, तो उनकी 'मृत्यु' होने लगती है। जिसका अर्थ यह है कि संचित पुद्गल की

घनिष्ठता तब कम होने लगती है, और वह बिल्कुल नष्ट भी करदी जा सकती है। इस प्रकार आत्म-संयम द्वारा वे जल्दी ही उखाड़ फेंकी जा सकती हैं।

जहाँ आत्म-संयम का अभाव है, वहाँ प्रत्येक क्षण, एक लहमे से दूसरे लहमें में वासनाओं के पौद्गलिक आधार में परिवर्तित होता रहता है। मौजूदा पुद्गल प्रत्येक समय में होनेवाले आन्तरिक आन्दोलनों के रूप में खपता रहता है, और नवीन पुद्गल का बाहर से आश्रव होता रहता है। इस दृष्टि-कोण से आत्मा एक ऐसे तालाब की भाँति है, जो पानी से भरा हुआ है और जिसमें से भाप आदि बनकर पुराना संचित पानी तो प्रत्येक समय निकलता रहता है, और नया पानी उसमे पड़नेवाली नालियों से आता रहता है। यदि हमे इस बात की इच्छा है कि आन्तरिक तालाब सूख जाय, तो हमें चाहिये कि हम उसमें और नया पानी न आने दें। और अग्नि (आत्म-संयममयी त्याग) जलाकर बचे-खुचे पानी को भी भाप बनाकर उड़ादें।

मन्द और शीलिये साधारणतया कम प्रभावशील वासनाओं और वृत्तियों से तड़पनेवाली वाञ्छाओं में अन्तर केवल तड़पने की शक्ति की मात्रा का है। दूसरे प्रकार की वाञ्छाओं में अधिक शक्ति का व्यय होता है। विशेष रूप से तड़पती हुई वासनाएँ हर समय पदार्थों में

इच्छा-पूर्ति करने की ढूँढ-खोज में रहती है। और इस प्रकार नय पुद्गल को खींचती और संचित करती रहती है, जो उनका अशान्ति को दुचन्द बढा देता है। इस प्रकार वह एक विषैला चक्कर स्थापित कर देती है, जिसमें इच्छाओं और उनकी पूर्ति की मात्रा बढती रहती है। पदार्थों के अभाव में ये वासनाय यान्तारत में आये हुए इन्द्रिय उद्वेगों के द्वारा झूठी (काल्पनिक) इच्छा-पूर्ति करती रहती हैं जिसके कारण भी स्वय ज्ञानेन्द्रियों की नाडियो के जाल-द्वारा नया पुद्गल सचित होता रहता है। जब आत्म-सयम को अपना लिया जाता है, और मन वाञ्छाओ को रोकने के योग्य हो जाता है, तब नये पुद्गल का आना रुक जाता है, और मौजूदा पुद्गल जल्दी ही नष्ट हो जाता है जिस से कि स्वय वासनाओं का नाश होजाता है।

२६–लेश्यायें।

पुद्गल के ससर्ग के कारण ससारी आत्मा आकर्षण-विकर्षण के नियम का पात्र बन रहा है। आन्दोलन शक्ति की गति, मन्दता, तीव्रता, कोमलता अर्थात् समय-मात्रा (ताल) मे आकर्षण का नियम लागू होता है। समय-मात्रा (ताल) हर प्रकार के force (शक्ति) से सम्बन्धित है। और अन्तिम खोज में सब प्रकार के द्रव्य शक्ति-रूप से चिन्हित पाये जाते हैं। वि[illegible] [illegible]गल-

समूह और संयोग में विभिन्न परिणाम और प्रकार की गति, समय-मात्रा आदि लिया होगी, और वह बाहरी पदार्थों की वैसी ही क्रिया के उत्तर में शीघ्र ही उत्तेजित (कर्तव्य-परायण) होगी, जैसे कि इन्द्रियशक्ति की वासनाओं का हाल है। अब यह नियम जो जन्मान्तर का निश्चित करता है। यह है—वासनाओं की शक्ति की चाल ढालें, ताल आदि का परिणाम-रूप स्वभाव (प्रकृति) होता है, स्वभाव ही वह वस्तु है, जो भावी जन्मान्तर का नियत करने में मुख्य कारण है। आत्मा उस ओर आकर्षित होकर खिंच जाता है, जिस ओर उसकी आन्तरिक शक्तियाँ (आन्दोलन vibrations) बाहरी दुनियाँ में अपनी जैसी प्रतिक्रिया को पा सकती हैं, और यहाँ उसका दूसरा जन्म होजाता है। यदि वह बारबार-जैसे किसी अति सुन्दर प्रदेश में पहुँच गया, तो कहा जायगा कि वह स्वर्ग में पहुँच गया। और यदि कहीं अफ्रीका के सहरा-जैसे भयानक मैदान में—जहाँ एक बूँद भी पानी नहीं मिलता—तो कहना होगा-वह नर्क में पहुँच गया। मनुष्यों में जन्म लेने के प्रश्न पर विचार करना अब व्यर्थ है, क्योंकि यह तो वासनाओं की आन्तरिक क्रियामय शक्तियों का प्रश्न है। इसी तरह हमें पशु या वनस्पति-योनि में जन्म लेने पर भी विचार करने की अब आवश्यकता नहीं है।

पौद्गलिक आन्दोलनों का गहन-सम्बन्ध कहा है, जिस

से आत्मा बिल्कुल अछूता है। किन्तु आत्मा पुद्गल के संसर्ग में है। इसलिये चारित्र के आगार-रूप, वह भी वर्ण में चिन्हित हो गया है। वह (वर्ण) आँख से नहीं देखा जा सकता, बल्कि अवधि-दर्शन के द्वारा दृष्टिगत किया जा सकता है। मुख्य वर्ण छ हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इन वर्णों के भी कितने ही रूपान्तर और भेद हैं। और वे वासनाओं के परिवर्तन के अनुसार समय समय पर बदलते रहते हैं। किन्तु वर्ण के मुख्य भेद कुल छ हैं। इन्हें लेश्या कहते हैं। लेश्यायें आन्तरिक आन्दोलनों के विचित्र भावों को ही सचमुच प्रकट करती हैं, और आत्मा के भावी जन्म को निश्चित बनाती हैं। कृष्ण लेश्या सब से निकृष्ट है। और वह व्यक्ति को सब से खराब प्रदेश और वातावरण में ले जाती है। इसके प्रतिकूल शुक्ल लेश्या श्रेष्ठ है, और इसका सम्बन्ध श्रेष्ठतम स्वर्गीय-जीवन से है। शेष लेश्यायें जीवन की माध्यमिक श्रेणियों से सम्बन्धित हैं।

पौद्गलिक संयोग (साहचर्य) की दृष्टि से जहाँ इच्छाओं की पूर्ति गहन-रूप से होती है, वहीं जीव और पुद्गल का एकमेक अति घनिष्ठता के साथ होता है। सुख और दुख के अनुभव के सम्बन्ध में यह देखा जा चुका है कि वे संसर्ग से अधिक दर्जे के जीव और पुद्गल के घनिष्ट एकीकरण को व्यक्त करते हैं। इन्द्रिय-लिप्सा ... पूर्ति की अधिकाधिक कामना इस एकीकरण को

धिक घनीभूत करती जायगी। यहाँ तक कि शम्बरा जीव से पुद्गल या चिपक जाता है मानो गोंद लगाकर जोड़ दिया गया हो। अपनी वासनाओं द्वारा जीवात्मा प्रत्येक क्षण अपने में सूक्ष्म, अदृश्य पौद्गलिक कणिकायें आकर्षित करता रहता है। और यह आगमन सोने में भी चालू रहता है। क्योंकि सोने की हालत का मतलब वासनाओं और क्रिया के अभाव से नहीं है, जैसे कि स्वप्न-अवस्था से स्पष्ट है।

जीवात्मा और पुद्गल का एकीकरण आत्मा के स्वाभाविक कार्य को नहीं होने देता है। परिणामतः विविध प्रकार की सीमाएँ उस पर लग जाती हैं। क्योंकि पूर्ण ज्ञान और सुख एवं आत्मीय पूर्णता के रस ही अन्य रूप जीव—द्रव्य के स्वाभाविक गुण हैं। और न वह खराब या भिन्न हो जा सकते हैं। पेड़ों में जीवात्मा पौद्गलिक भाव से इस प्रकार लगा हुआ है कि करीब करीब वह अचेतन दशा में है। कीड़े-मकोड़े आदि निम्न-श्रेणी के पशु पक्षी से एक पग बढ़े हुए जरा सचेत हैं। ऊँची श्रेणी के पशुओं में भी उत्तम प्रकार के मनो-योग का अभाव है। मनुष्य स्वयं बुद्धि ज्ञान के शिखर पर सदा ही पहुँचा हुआ नहीं मिलता। यह सब कुछ विभिन्नता केवल पुद्गल के प्रभाव के कारण है, जो विविध प्रकार से जीवात्मा के साथ लगा हुआ है। भव-भ्रमण आस्रव का वह रूप है, जो मनुष्य

अधिक जीवात्मा के भाग्य में पुद्गल के मेल के परिणाम-रूप बना है। जो लोग पुण्य-कार्य करते हैं, वे जीवन क्रम में बहुत ऊपर चढ़ जाते हैं। यह इस कारण है कि पुण्य कार्य में पाप-कार्य के मुकाबले में पुद्गल-रूपी सीमेन्ट कम चेपदार है। पुण्य कार्य उदारता और संयम पर अवलम्बित हैं, जब कि पाप कर्म व्यक्ति की स्वार्थ पूर्ण वासनामयी उत्तेजनाओं की पूर्ति पर टिका है। जब जीवात्मा में इच्छित पदार्थों से रुचि को हटा लेने और स्व ध्यान में लीन होने के कारण कोई पुद्गल प्रकाशित नहीं होता—तो वासनाओं को पनपानेवाला भोजन नहीं मिलता, और फलतः वे नष्ट होने लगती हैं। इसके विपरीत यदि पौद्गलिक आवरण पापी जीवन के कारण अति गहरा हो जाता है, तो जीवात्मा अपने चेतन-उपयोग को काम में लेने के लिये हीन-कर्त्तव्य हो जाता है, और वह जीवन की उस नीचतम श्रेणी में पहुँच जाता है, जहाँ सिवाय स्पर्श-इन्द्रिय ज्ञान के और वह कुछ अनुभव नहीं कर सकता है।

निर्वाण में जीवात्मा पुद्गल से रहित होता है। और वासनायें एवं लेश्यायें भी उसके वहाँ नहीं होतीं। वहाँ वह स्वच्छ, विशुद्ध, पवित्र ज्योति-रूप में विद्यमान रहता है।

वासनायें एक-एक करके दबाई तो जा सकती हैं, लेकिन वह सब नष्ट एक साथ ही हो सकती हैं। सब

वास्तव में इच्छा शक्ति की ही रूपान्तर होती हैं, और स्वभावतः इच्छा-शक्ति के रहने तक बनी रहती हैं। उनकी उत्पत्ति राग व द्वेष के कारण से होती है, जो स्वयं बहिरात्मा (शारीरिक व्यक्तित्व) के सम्बन्ध से होता है। जब तक बहिरात्मा का प्रभाव अनुभव पर नहीं पड़ता उस वक्त तक वासनाओं की उत्पत्ति या पुष्टि नहीं होती। व्यक्तिगत राग-द्वेष रहित शुद्ध ध्यान केवल उसी आत्मा के हो सकता है, जिसने घात करनेवाले कर्मों को जड़-मूल से नष्ट कर दिया है शेष सभी जीव अपने अपने अनुभवों को अपने शारीरिक व्यक्तित्व से, जिसकी भलाई का उनको सदा ध्यान रहता है,—सम्बन्धित करते रहते हैं। जब तक शारीरिक व्यक्तित्व की भलाई का ख्याल दिल में से पूर्णतः नहीं निकलता—उस समय तक वासनायें नष्ट नहीं हो सकती हैं, यद्यपि उनका एक एक करके दबा दिया जाना सम्भव है। यही कारण है कि साधुजन ऊँचे गुणस्थानों से नीचे गिरते रहते हैं, जब तक वह कुल फिसाद की जड़—बहिरात्मा के भ्रम—को नष्ट नहीं कर सकें। इसका भाव यही है कि सब प्रकार की इच्छाओं का, जिनमें आहार और विरोधी-दल के भय से अपरिग्रह अवस्था के चिन्ह रूप—नंगेपन को ढकने की इच्छा भी शामिल है, त्याग लाज़मी है, यदि हम को निर्वाण के सुख की अभिलाषा है।

२७—श्रद्धान ।

श्रद्धान मन की स्थिति है, उसका एक खास प्रकार के विचारो के समूह (mental complex) की ओर झुक जाना है।

झूठा श्रद्धान बहिरात्मा की भलाई के चहुँ ओर केन्द्रीभूत होता है। जो कुछ और जो भी बहिरात्मा के फायदे के लिये सहायक दृष्टि पड़े, झट सरक्षक और त्राणदाता मान लिया जाता है। सर्वोच्च प्रकार का सरक्षक ईश्वर नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार का विश्वास प्रार्थना द्वारा दृढ होता है। अर्थात इस कल्पना के आधार से कि भक्त की प्रार्थनाओं के उत्तर मे उसका ईश्वर उसकी मॉगो को मजूर कर लेता है, वह दृढ हो जाता है। जो लोग विचार-शून्य हैं, वह हमेशा ही अपने दैनिक जीवन की सुखद घटनाओं में इस प्रकार की स्वीकृति और कृपा को ढूँढते रहते हैं, और ऐसी बातों को ईश्वर की कृपा का फल बताने में जरा भी नहीं हिचकिचाते जो वास्तव में साफ-साफ प्राकृतिक कारणों पर अवलम्बित हों। इस प्रकार का मस्तिष्क पागलपन के चौड़े मार्ग की ओर सरपट दौड़ा चला जाता है।

जानकारी (खबर) और श्रद्धान में केवल इतना अन्तर है, कि खबर में तो अनिश्चय की मात्रा का लक्षण मौजूद रहता है, किन्तु श्रद्धान में

हो जाता है । दूसरे शब्दों में कहिये कि श्रद्धान तो मानसिक अनिश्चय से मुक्त है, और जानकारी (खबर) नहीं है।

श्रद्धान का जन्म निश्चय से होता है, चाहे वह विचार से उत्पन्न हुआ हो और चाहे अनुभव से। किन्तु स्वभावतः विचार की अपेक्षा अनुभव को ही इसमें प्रमुख स्थान प्राप्त है, क्योंकि उसमें श्रद्धान के विषय की व्यवहारिक रूप से सिद्ध हो जाती है।

श्रद्धान सन्देह के कारण विक्षिप्त और नष्ट भी हो सकता है। यह उस हालत में होता है, जब कि अनुभव द्वारा श्रद्धान में आई हुई बात असम्भव-सी दिखने लगती है। यदि सन्देह का निवारण प्राकृत रूप में अर्थात् तलाश और खोज द्वारा नहीं हुआ, तो वह श्रद्धान को बिल्कुल नष्ट कर देगा। हाँ, यदि श्रद्धान का झुकाव दूसरी ओर को इतना ज्यादा हो, कि संशय उसे न हिला सके, तो इस हालत में संशय का गला घोंट दिया जायेगा, और श्रद्धान के विषय को फिर से इच्छा-शक्ति-द्वारा प्रतिष्ठा कर दी जावेगा।

अपनी आत्मा के परमात्मपन में विश्वास करना और बाहरी रक्षक या मुक्ति देने वाले ईश्वर में अविश्वास करना, सम्यक्-श्रद्धान है। यह आंशिक या पूर्ण अन्वेषण द्वारा उत्पन्न होता है।

पहले ही पहले पाखण्ड और पागलपन की हठधर्मी (पक्षपात) को नष्ट किया जाता है, और उसके साथ-ही निकृष्ट (अनन्तानुबन्धी) प्रकार के कषायों का भी अन्त होता है। इसके परिणाम में विचारशीलता और निष्पक्षता का उन्य आत्मा मे हो जाता है। इस दशा में वह एक सच्चे गुरु का पता लगाकर उस से सत्य-धर्म का उपदेश ग्रहण करता है। इस ज्ञानोपदेश के लाभ का परिणाम यह होगा कि आत्मा, जिसकी आँखें अब सत्य के दर्शन के लिये खुल गई हैं, और भी गम्भीर और निर्मल हो जायगा। इस स्थिति में आत्मा जो कुछ उपदेश सुनेगा, उस पर गहन विचार करेगा, और उसकी शकाओं का एक के बाद दूसरे का नाश होने का फल सम्यक्-श्रद्धान म मिलेगा। शकाओं के कारण होनेवाली मानसिक उद्वेलना के बन्द हो जाने के परिणाम-स्वरूप विचारक आत्मा विशेष सन्तुष्ट होगा। आखिर मे गुरु के वचन और शिष्य के परिमित ज्ञान-भण्डार के एकीकरण की स्पष्टता शान्ति तथा प्रशान्त मन की स्थापना से हो जायगी। इसका समर्थन सच्चे आनन्द के अनुभव से होगा, जिसे आत्मा अब प्रथम बार अनुभव करेगा। क्योंकि यह आनन्द का अनुभव उन बोझों के हल्का हो जाने से प्राप्त होगा, जिनके नीचे वह दबा हुआ था। अब वह जानता है कि मैं पुद्गल का एक दुखी नाशवान पदार्थ नहीं हूँ।"

एक सचा परमात्मा हूँ, अमर हूँ, सर्वज्ञ हूँ, आनन्दमय हूँ, और अपने स्वरूप की प्राप्ति में किसी के रोके नहीं रोका जा सकता हूँ।

जहाँ एक बार गुरु के वचनों पर विश्वास हुआ, कि मन में नये विचार समूहों का जन्म और पुरानों का नाश होने लगा। वासनाओं की जड़ें, जो शारीरिक आमाशयों में धँसी हुई थीं, अब ढीली हो जाती हैं, और फिर कभी भी अपनी पुरानी हालत को नहीं प्राप्त हो सकतीं। शारीरिक प्रेम भी, जो अज्ञानता की दशा में, हर वक्त में, और हर हालत में विचार में प्रधान बना रहता था, अब नष्ट होते हुए कम्पायमान होता है। अब वह जली रस्सी की शक्ल में ही रहता है। मगर इस दशा में भी, वह इतना शक्तिशाली हो सकता है, कि विचार में तात्र मिथ्यात्व की पुट दे दे। अब पुराने पौराणिक देवता विदा हो जाते हैं। किन्तु मन अब भी कष्ट के सहन करने में असमर्थ है। जहाँ कोई आफत आई कि उसने झट नये आदर्शों से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करनी प्रारम्भ कर दी।

श्रद्धान के सम्बन्ध में यह नियम है, कि वह अपने को व्यवहार में लाये बिना नहीं रहता। इसका कारण मानसिक संयोग हैं, जिनसे नवीन उद्देश्य की स्थापना होती है और आत्म-द्रव्य का अखण्डपन है। चूँकि वासनायें

जीवन-उद्देश्य के ही आस-पास डेरा जमाये होती हैं, चाहे वह (उद्देश्य) गलत हो या, इस कारण उसमें परिवर्तन भी होते रहते हैं, और वह उसके आधीन भी रहती हैं। इस प्रकार निर्दयता का स्थान दया या साधु-वृत्ति ले सकती है, और इसमें उल्टा भी हो सकता है। यह तो केवल मन के उद्देश्य से सम्बन्धित प्रश्न है।

उद्देश्य की स्थिरता श्रद्धान पर अवलम्बित है, जो। आत्मा के जीवन-क्रम में सहस्रों बार गँवायी और पाया जा सकता है। हाँ, वैज्ञानिक श्रद्धान की बात दूसरी है। वह तो व्यवस्थित अध्ययन और अन्वेषण-द्वारा प्राप्त होता है, जिसके कारण उसमें विघ्न डालने के लिये कोई शंका शेष नहीं रहती। वहाँ भी जहाँ कुछ प्रश्नों का हल करना बाकी रह गया है, जोकि एक सीमित-बुद्धि के लिये प्राकृतिक बात है, मुख्य-सिद्धान्तों पर श्रद्धान होने से वे अधिक खोज की ओर ही ध्यान का लेजावेंगे। किन्तु उस दशा में स्थापित श्रद्धान में दखल देने को वह समर्थ नहीं होंगे।

२८–स्वाधीन मनोवृत्ति और कर्म।

स्वाधीन मनोवृत्ति और कर्म-विषयक सनातन पहेली आसानी से हल हो जाती है। कर्म स्वभाव (प्रकृति) के द्वारा ही

कार्य करता है। वह वासनाओं का परिवर्तित कर देता है, और उन्हें बदल देता है। स्वाधीन मनोवृत्ति केवल यह है, कि व्यक्ति जो चाहे, सो कर सके। अर्थात् वह कार्य जो द्रव्य (स्वभाव) को अति-प्रिय हों।

यह विषय ही उस दृष्टि से सम्बन्धित है, जिससे इस पर विचार किया जाय। यदि हम व्यक्ति के स्वभाव की पूर्वापेक्षाओं की ओर ध्यान देना न चाहें, तो जीवित प्राणी का प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र होगा। मगर जब ध्यान उन शक्तियों की ओर दिया जाय, जो स्वयम् मानव-स्वभाव का बनाती हैं, तो कोई भी कार्य उनसे निलग और इसलिए स्वतन्त्र नहीं कहा जायगा।

सत्य की शिक्षा के विषय में भी यह है, कि वह उन लोगों को प्राप्त नहीं होगी, जिनका स्वभाव उसकी प्राप्ति में बाधक है। वे उससे किसी बाहरी शक्ति-द्वारा वञ्चित नहीं रक्खे जाएँगे, बल्कि स्वयम् अपने ही स्वभावों द्वारा। वस्तुतः उन्हें इस सत्य-शिक्षा को ग्रहण न करने में ही आनन्द आयगा। और वह अपनी मनोवृत्ति की स्वाधीनता द्वारा उसे नापसन्द करना ही भला समझेंगे, क्योंकि वह शिक्षा उनके स्वभाव के अनुकूल न होगी। किन्तु यह उनकी स्वाधीन मनोवृत्ति क्या है, जो उनके स्वभाव को सत्य के प्रतिकूल किये हुए है?—यही तो पूर्व-सञ्चित-कर्म कहलाता है।

इस प्रकार मोक्ष का द्वार केवल उन आत्माओं के लिये खुलेगा, जिनकी मनोवृत्ति सत्य को ग्रहण करने के लिए तत्पर होगई है। शेष उस समय तक बन्धन में पड़े रहेंगे, जब तक कि उनका मन वैज्ञानिक ढङ्ग का न हो जायगा, और उनमें सत्य को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न न हो जायगी। जो इस समय धार्मिक सत्य के विरुद्ध हैं, और जो सत्य के ज्ञाताओं को कष्ट देते हैं, वह अभी से ऐसी आदतें बना रहे हैं, जिनसे उनके मन का झुकाव सत्य के विरुद्ध हो जायगा, और वह कभी भी उसके ग्रहण करने के लिये अपने मन में रुचि नहीं पायेंगे। उनकी अवस्था सचमुच दुःखप्रद जान पड़ती है।

१—चरित्र।

श्रद्धान चरित्र की भित्ति है। मिथ्या श्रद्धान किसी-न-किसी रूप में कामनाओं और आशाओं को ही बढाता है। उसका केन्द्र शारीरिक व्यक्तित्व है, जिसकी भलाई का ध्यान उसे सदैव रहता है। मिथ्या श्रद्धानी लोग अपने देवताओं से भीख माँगते रहते हैं—"हमें बडी उमर प्रदान करो। स्वास्थ्य, धन, सम्पदा-आदि हमें दो। (अमर जीवन को माँगने का साहस उन देवताओं से उन्हें हो नहीं सकता) लोग, जिस किसी देवता की पूजा करते हैं, तो इस भय से कि कहीं उनका देवता उनसे रुष्ट न हो जाय। इन लोगों का विश्वास है, कि उनके भले-बुरे का करनेवाला कोई एक कर्ता हर्ता ईश्वर है, जिसका उन्हें कृतज्ञ होना चाहिये। ऐसा श्रद्धान खेद-जनक है। वस्तुतः प्रकृति के पदार्थों और उनके गुणों एवं लक्षणों का कर्ता-हर्ता कोई नहीं है। प्रकृति स्वयं परिपूर्ण है। यदि प्रकृति एक कर्ता को बना सकती है (क्योंकि यदि कर्ता हर्ता ईश्वर को प्राकृत न माना जायगा, तो उसका भी एक कर्ता ढूँढना होगा) तो अन्य वस्तुओं को भी उत्पन्न कर सकती है।

धन्यवाद की, मौ पहले यह तो देखिये, कि कितने प्राणी सचमुच सुखी और समृद्धिशाली है ? क्या करोड़ों की संख्या में मारे जानेवाले कीड़ों, या भेड़ों और बकरियों की दशा को ठीक समझें, जिनको शेर-चीते खा जाते हैं ? तो क्या वस्तुतः मनुष्य सुखी है ? हम में जो बड़े आत्मी हैं—क्या उन्हें हम सुखी कह सकते हैं ? असल बात तो यह है, कि ईश्वर द्वारा सृष्टि के रचे जाने का खयाल ही महा भयानक है । सृष्टि की रचना तो नितान्त क्रूर कर्म है। जरा उन आत्माओं की ओर देखिये, जो कर्म-बन्धनों में जकड़े हुए हैं—और जो अब तक उनसे अपना पिण्ड छुड़ा लेने में लाचार हैं । और भी देखिये, इस जन्म-मरण के बोझ को, जो उन पर लाद दिया गया है । क्या हम ऐसे व्यक्ति को, जिसने हमें दुःख, बन्धन और मृत्यु का गुलाम बना दिया है, दयालु और मित्र कहें ? क्या वह व्यक्ति, जो इस बुरी तरह से हमें पीड़ा में डाले हुए है, प्रशंसा का पात्र है ? वस्तुतः आत्मा को दुःखों में डालनेवाले कर्ता हर्ता ईश्वर के प्रति कृतज्ञता के लिए कोई स्थान ही शेष नहीं है। आत्मा तो अपने ईश्वरपन से वञ्चित किया गया है, और लूटा जा चुका है । भला हम उसकी पूजा उक्त कृपा के लिये करें, जिसने हमें लूट लिया है ? बुद्धि के दिवालियापन की भी कोई हद होनी चाहिये । डर भी उचित नहीं है । यदि तुम अपने आपको समझने की कोशिश

करो, तो तुम्हें विदित हो जाय, कि तुम्ही खुद अपनी करनी के मालिक हो। चाहे तो खुद अपना भाग्य बना लो, चाहे बिगाड लो। सचमुच भावत कोई व्यक्ति ऐसा शालू नही है—एक परमात्मा की तो बात ही न्यारी है—जो तुम्हारी छोटी-मोटी सभी कर्त्तूतों का चिट्ठा बनाये रक्खे, और उनके अनुसार तुम्हें प्रलय के दिन—अथवा मरने पर उससे पहले—सजा या इनाम भेंट करे। "मनुष्य! तू अपने को पहचान!!"—मानव के लिये यही एक ठीक उपदेश है, और यह कहना भी ठीक है कि—"मानव जाति का सब से अधिक उचित अध्ययन मनुष्य ही है।"

सम्यक्-श्रद्धान सम्यक्-चरित्र की जड है। यह श्रद्धान बुद्धि की उस घृणित मान्यता से नितान्त अछूता है, जो व्यक्ति की स्थिति और दशा का मूल कारण एक कर्ता हर्ता ईश्वर को बताती है। सम्यक्-श्रद्धान से अलकृत आत्मा दैव-प्रकोप के भय को दूर कर डालता है, और अपनी अप्रिय दशाओं का उत्तरदायित्व स्वय अपने-आप साहस-पूर्वक स्वीकार करता है, और दृढता के साथ यह पौराणिक देवताओं के निकट, जो उसके हृदय-मन्दिर में अब तक विराजमान थे, विदा हो जाने के लिये प्रार्थी होता है।

सम्यक्-'जीवन' का उद्देश्य हृदय की बुरी और भली, सब प्रकार की, वासनाओं को नष्ट करके आत्मा को पुद्गल व पञ्जे से छुड़ा लेना है, क्योंकि वासनाओं के द्वारा

हा पुद्गल का आश्रव होता है, और जब मल का शोषण करने (चूसने) के लिए वे नहीं रहेंगी, तो पुद्गल का आश्रव स्वयमेव रुक जायगा।

व्यक्ति को सर्वथा इच्छा-रहित हो जाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। परन्तु यह शनैः-शनैः ही हो सकता है। इसीलिये आत्मोन्नति का मार्ग दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। उन में एक तो प्रारम्भिक है, अर्थात् वह ज्यादा कठिन-साध्य नहीं है। दूसरा श्रेष्ठ है, जो नितान्त तपोमय है। जो अभी पहले मार्ग का ही अभ्यास कर रहे हैं, वह गृहस्थ हैं, और अपनी इच्छाओं को परिमित बनाने में व्यस्त हैं। परन्तु दूसरा मार्ग केवल साधुओं के लिये है, जिन्होंने गृहस्थ-दशा में प्रारम्भिक मार्ग को सफलतापूर्वक तय कर लिया है।

दोनों ही मार्ग विविध नियमों (व्रतों)-द्वारा संस्कृत हैं। गृहस्थों के मार्ग में ऐसे बारह नियम हैं और उचित रीति से स्मरण करने की शिक्षा है। वे बारह नियम इस प्रकार हैं -

(१) अहिंसा-जिसका अर्थ है—"किसी को दुख न पहुँचाओ।" शिकार खेलना, मछली मारना, गोली से मारना, और मांस खाना, इसमें गर्भित हैं। और चूँकि ये हिंसा के सब से निकृष्ट रूप हैं, इसलिये इनका त्याग सब से पहले करना आवश्यक है।

(२) सत्य—जिसमे, बुरे, अप्रिय और घृणित वचन न बोलना भी गर्भित है।

(३) अचौर्य—चोरी न करना और किसी भी रीति से बेईमानी न करना।

(४) ब्रह्मचर्य—इंद्रिय-वासना का घृणित रूप पहले ही त्याग देना आवश्यक है। अर्थात्—दूसरे का बना-बनाया घर बिगाड़ना (पर स्त्री गमन) और छिनाला (व्यभिचार) पहले ही छोड़ देना चाहिये। उपरान्त जब पर्याप्त आत्म-सयम की शक्ति सचय करली जाय, तब पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना चाहिये।

(५) अपरिग्रह—सासारिक वस्तुओं से मोह हटाना है। इस नियम का पालन करने से पहले जुआ खेलने-आदि का त्याग जरूरी है।

(६) दिग्व्रत—चारों दिशाओं में अपने गमनागमन की सीमा को नियत कर लेना।

(७) अनर्थ-दण्ड व्रत—व्यर्थ की बुराई से अपने को बचाना। सब प्रकार के बुरे विचार और बुरे उपदेश इस नियम में त्यागने पड़ते हैं।

(८) भोगोपभोग-परिमाण-व्रत—ससार के भोगोपभोग-सेवन को नियमित करना है।

(९) देश-व्रत—समयानुसार अपने गमनागमन के क्षेत्र में और भी कमी करना।

(१०) सामायिक-प्रति दिन तीन बार आवश्यक रूप से ध्यान करना।

(११) उपवास।

(१२) वैयावृत्य—सेवा करना, मुख्यतः साधुओं की, और आहार, औषधि, ज्ञान, और अभय-रूप चारों दानों का देना।

गृहस्थ अपने जीवन पर्यन्त उक्त नियमों में पूर्ण सफल-प्रयत्न होने का उद्यम करता है। यदि वह सफल हो गया, तो बुढ़ापे के निकट पहुँचते ही 'सन्यास'-रूपी श्रेष्ठ मार्ग पर पहुँच जाता है।

अन्तिम मृत्यु-शैया नियम, ठीक रीति से मरण करने का नियम है। जब मालूम हो जाय कि मृत्यु अवश्यम्भावी है—इसके पहले नहीं—तो गृहस्थ को यथा-शक्ति पूर्ण सतोष और शान्ति के साथ महान् उद्देश्य और आत्मा के स्वभाव का स्मरण करते हुए शरीर त्यागना चाहिये।

अपने जीवन निर्वाह के लिये गृहस्थ कोई भली (उत्तम) प्रकार की आजीविका करता है। और अध्ययन, दान और आत्म-सयम के अभ्यास में लीन रहकर—देव—शास्त्र—गुरु को (आदर्शों के भाँति) पूजा करता है, और उनका अनुकरण करता है।

उक्त प्रकार सक्षेप में गृहस्थ जीवन का वर्णन है।

साधु भी कतिपय नियमों का पालन करते हैं। और वह यह हैं। (१-५) गृहस्थ धर्म के प्रारम्भिक पाँच नियम पूर्ण रूप में पालन करते हैं। साधु अपने लिये भोजन भी नहीं बनायेंगे, किसी भी दशा में असत्य और अप्रिय भाषण नहीं करेंगे, परिग्रह कुछ भी नहीं रक्खेंगे। लँगोटा भी नहीं पहिनेंगे। हाँ, कमण्डल, केवल शौच व पानी के लिये, और पीन्छी कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा के लिये जरूर रखते हैं।

(६—१०) पाँच समिति—वह विनय-रहित शारीरिक क्रिया से भी किसी जीव को बाधा नहीं पहुँचायेंगे। चलने में, बोलने में, भोजन में, पुस्तक-आदि के उठाने रखने और मल निक्षेप करने में सावधानी से काम लेंगे, जिससे सूक्ष्म जन्तुओं की—जो हजारों की संख्या में हमारी जरा-सी असावधानी से मरते हैं—हिंसा न हो। शारीरिक माँगों और असावधानी की क्रियाओं का रोकना बिना इन पाँच प्रकार की समितियों के नहीं हो सकता।

(११—१३) तीन गुप्ति—मन, वचन, काय का उपयोग सावधानी से करना।

यदि एक जीवन में निर्वाण प्राप्त करना असम्भव हो, तो साधु स्वभावत —'सल्लेखना व्रत' का पालन करें, और सविधि शरीर का त्याग करे।

यह साधु-जीवन की संक्षिप्त रूप-रेखा है। साधु को सदा ही मृत्यु का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

यदि कोई सङ्कट या उपसर्ग आ पड़े, तो उससे टलकर हट जाना या मुँह छिपाकर भागना साधु के लिए उचित नहीं है। 'कष्ट-सहिष्णुता' उसके जीवन का एक अङ्ग है, और उससे उसे मुँह न छुपाना चाहिये। वह गृहस्थावस्था के समय के सभी संयमों को धारण करता है, और अपना समय केवल शास्त्राध्ययन, ध्यान और मुमुक्षुओं को धर्मोपदेश देने में व्यतीत करता है। वह दिन में केवल एक बार विधिपूर्वक भोजन करता है। दोनों ही मार्गों के पथिक के लिए मद्य का सेवन करना भी मना है।

पुण्य और पाप दोनों ही भव-भ्रमण को बढ़ाते हैं। हाँ, यह जरूर है, कि पुण्य से अच्छी दशायें नसीब होती हैं, और पाप से खराब। आत्मा और पुद्गल का संयोग तभी असम्भव हो सकता है—तोड़ा जा सकता है—जब अच्छे और बुरे सभी कर्म नष्ट हो जायें। इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह मनुष्य जो पुण्य-कर्म की सीमा से भी ऊपर चढ़ गया है, दुर्व्यसनी, पापी या बदमाश हो जायगा। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस दशा में न तो वह पुण्य और न पाप ही कर सकेगा। दुर्व्यसन को तो उसने बहुत पहले, श्रावक-दशा में ही, छोड़ दिया था। इसलिये अपने उच्चपद से नीचे गिरे बिना वह उसे फिर ग्रहण नहीं कर सकता। वह अपने उस धैर्य को धारण किये (सुरक्षित?) रक्खेगा। और अब दूसरे की भलाई, वह केवल उनको सत्य

ा से प्रदीप्त करना-भर कर करेगा। और जब वह प्राप्त कर लेगा, तो अपने पीछे दूसरों को उत्साहित व एक आदर्श और स्मारक छोड़ जायगा, जो को रोग और मृत्यु के पंजों से छुड़ाकर परमात्म-पद स्थापित कर सकेगा। यह भलाई के कार्य से भी अति अधिक उत्कृष्ट है।

यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति इनमें से किसी चरित्र-नियम को (पालन करने के लिये) अत्यन्त कठिन अनुभव करे। किन्तु उनकी कठिनता का सहज इलाज है कि वह इनमें से केवल उन नियमों को धारण कर ले, जिनका वह सुगमतापूर्वक पालन कर सके, और जो कष्ट-दायक न जान पड़े। यदि वह सम्यक्-दर्शन से प्रभावित हो गया है, तो एक समय ऐसा आयेगा कि जब वह स्वयं उन कठिन दिखाई पड़नेवाले नियमों के पालने की वाञ्छा करने लगेगा, और उपयुक्त अवसर के आते-ही, उनके पालन करने में रुके नहीं रुकेगा। यदि यह नियम असम्भव ही दीखे, तो यह दुर्भाग्य की बात होगी। क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि उसमें सत्य को समझने और उससे लाभ उठाने की योग्यता का अभाव है, जो स्वयम् सम्यक्-दर्शन (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति व दृढ़ता में भी बाधक होगा।

॥ समाप्तम् ॥

लज्ञानावरण उस अनन्तवें भागको भी आवृत कर ले तो जीव और अजीव
काद अन्तर ही न रह सकेगा, जैसे यदि मेघपटल सूर्यकी उस अवशिष्ट
भाको भी आच्छादित कर ले, जो दिन और रातमें अन्तर डालता है, तो
कालमें, दिन और रातमें कोई अन्तर ही न रह सकेगा। फिर भी जैसे
पटल सूर्यका सर्वात्मना आवारक कहलाता है, उसी तरह केवलज्ञानावरण
लज्ञानका सर्वघाती कहा जाता है, क्योंकि उसके सर्वथा हटाये बिना
लज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

केवलदर्शनावरण केवलदर्शनको पूरी तरह घातता है, किन्तु फिर भी
उसका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। शेष बातें केवलज्ञानावरणकी ही
तरह समझ लेना चाहिये। पाँचों निद्राएँ भी वस्तुओंके सामान्य प्रतिभासको
नहीं होने देती हैं अतः सर्वघातिनी हैं। सोते समय मनुष्यको जो थोड़ा
बहुत भान रहता है, उसे मेघपटल दृष्टान्तसे समझ लेना चाहिये। बारह कषायों-
से, अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वगुणका घात करती है, अप्रत्याख्या-
नावरण कषाय देशचारित्रका घात करती है और प्रत्याख्यानावरण कषाय
सर्वविरति चारित्रको घातती है। मिथ्यात्व भी सम्यक्त्वगुणका सर्वात्मना
घात करता है। अतः ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं।

जो प्रकृति आत्माके गुणका एकदेशसे घातती है वह देशघातिनी कह-
लाती है। मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण केवलज्ञानके उस अनन्तवें
भागका एकदेशसे घातन करते हैं, जो केवलज्ञानावरणसे अनावृत रह जाता

१ "पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं।
सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धीया वि न लहंति ॥१०८॥" आ० नि०।

२ "बीयकसायाणुदये अप्पच्चक्खाण नामधेज्जाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरइं न उ लहंति ॥१०९॥" आ०नि०।

३ "तइयकसायाणुदये पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं।
देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति ॥११०॥" आ० नि०।

११ परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ—तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करती हैं। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समयमें चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

---

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

भोगान्तराय देशघाती हैं। तथा, वीर्यान्तराय भी देशघाती है, क्योंकि वीर्यान्तरायका उदय होते हुए भी सूक्ष्मनिगोदिया जीवके इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है, जिससे वह कर्म और नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण वगैरह करता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी तरतमताके कारण ही सूक्ष्म निगोदियासे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके जीवोंके वीर्यकी हीनाधिकता पाई जाती है। यदि वीर्यान्तराय सर्वघाती होता तो जीवके समस्त वीर्यको आवृत करके उसे जड़की तरह निश्चेष्ट कर देता। अतः यह भी देशघाती ही है। इस प्रकार पचास प्रकृतियाँ देशघातिनी जाननी चाहिये।

डेढ़ गाथाके द्वारा सर्वदेशघातिद्वारका निरूपण करके अर्धगाथाके द्वारा उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारका कथन करते हुए अघातिप्रकृतियोंको गिनाया

---

१ कर्मकाण्ड गा० ३९-४० में सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों को गिनाया है। कर्मग्रन्थ और कर्मकाण्डकी गणनामें केवल एक एक प्रकृति का अन्तर है। कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियाँ २१ और देशघातिप्रकृतियाँ २६ हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धप्रकृतियोंकी लेकर सर्वघाती और देशघातीका विभाग किया है और कर्मकाण्डमें उदयप्रकृतियोंको लक्ष्य में लेकर उक्त विभाग किया है। यह हम बतला आये हैं कि बन्ध और उदयमें दो प्रकृतियोंका अन्तर है। बन्धप्रकृतियाँ १२० हैं और उदयप्रकृतियाँ १२२। क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्ध नहीं होता, किन्तु उदय होता है और घातित्व तथा अघातित्वका सम्बन्ध उदयके ही साथ है। अतः कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति और देशघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्त्वप्रकृति बढ़गई है।

पञ्चसंग्रह गा० १३५ में सर्वघाती तथा गा० १३७ में देशघातीप्रकृतियों को गिनाया है, जिनकी संख्या क्रमशः २१ और २५ है, जैसा कि कर्मग्रन्थ में बतलाया है।

है। अघातिप्रकृतियोंकी संख्या ७५ है। ये प्रकृतियाँ ज्ञानके ज्ञानादिकगुणों-का घात नहीं करतीं, अतः अघातिनी कहलाती हैं।

९-१०. पुण्य-पापद्वार

सर्वदेशघातिद्वार और उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारको बन्द करके अब पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

सुर-नर-तिगु-च्च-साय तसदस तणु-वग-वइर-चउरंस ।
परघासग तिरिआउ वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥१५॥
बायालपुन्नपगई, अपढमसंठाण-खगइ-संघयणा ।
तिरियदुग असाय नीउ-वघाय इगविगल निरयतिग॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

अर्थ—सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), नरत्रिक (नरगति, नरानुपूर्वी, नरायु), उच्चगोत्र, सातवेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघातसप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, तिर्यगायु), वर्णचतुष्क, पंचेन्द्रियजाति, प्रशस्त विहायोगति, ये बयालीस पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

तथा, पहलेको छोड़कर शेष पाँच संस्थान और पाँच संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, असातवेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय, नरकत्रिक (नरकगति, नर-

१-रिदु-ख० पु०। २ नीयोव-ख० पु०।

इसप्रकार पुण्य-पापद्वारका वर्णन समाप्त होता है।

१२ अपरावर्तमानद्वार

पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारको बन्द करके जब ग्यारहवें परा-वर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन क्रमप्राप्त था किन्तु अपरावर्तमानप्रकृतियोंकी

---

१ कर्मकाण्डकी गाथा ४१-४२ में पुण्यप्रकृतियाँ और ४३-४४ में पापप्रकृतियाँ गिनाई हैं। दोनों ग्रन्थोंकी गणनाओंमें कोई अन्तर नहीं है। कर्मकाण्डमें केवल इतनी विशेषता है कि उसमें भेदविवक्षामें ६८ और अभेद विवक्षामें ४२ पुण्यप्रकृतियाँ बतलाई हैं। तथा पापप्रकृतियाँ बन्धदशामें भेद विवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ बतलाई हैं और उदयदशामें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वको मिलाकर, भेदविवक्षासे १०० और अभेदविवक्षासे ८४ बतलाई हैं। पाच बन्धन, पांच संघात और वर्ण आदि बीसमें से १६, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पुण्यप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है और वर्ण आदि बीसमें से १६ प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पाप प्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है। बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्मके ये दो भेद किये हैं-कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म। जिसका विपाक इष्ट होता है, उसे कुशलकर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनिष्ट होता है, उसे अकुशलकर्म कहते हैं। इसी तरह जो सुखका वेदन कराता है वह पुण्यकर्म है और जो दुःखका वेदन कराता है वह अपुण्यकर्म है। यथा-"कुशलं कर्म क्षेमम्, इष्टविपाकत्वात्, अकुशलं कर्म अक्षेमम्, अनिष्टविपाकत्वात्।" "पुण्यं कर्म सुखवेदनीयम्, अपुण्यं कर्म दुःखवेदनीयम्।" (अभिधर्म० व्या० पृ० १०१)

योगदर्शनमें भी पुण्य और पाप [illegible] है। यथा-'कर्माशय पुण्यापुण्यरूप।' (पृ० १६२)

संख्या अल्प होनेके कारण पहले अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

नामधुवबंधिनवगं दंसण-पणनाण विग्घ-परघायं ।
भय-कुच्छ मिच्छ-सासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

अर्थ—नामकर्मकी नौ ध्रुवबंधिप्रकृतियाँ, चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थङ्कर, ये उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियाँ हैं ।

भावार्थ—इस द्वारमें उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । अर्थात् ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनोंको रोककर अपना बंध, उदय अथवा दोनों नहीं करती हैं । जैसे मिथ्यात्वका बंध और उदय किसी अन्य प्रकृतिके बंध अथवा उदयको रोक कर नहीं होता । अतः यह अपरावर्तमानप्रकृति है । शायद कोई कहे कि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमें मिथ्यात्वका उदय नहीं होता, अतः ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके उदयकी निरोधिनी हैं । ऐसी दशामें उसे अपरावर्तमान क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वका बंध और उदय पहले गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहाँ मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय नहीं है । यदि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें रहकर [illegible] उदयको रोकतीं और स्वयं उदयमें आतीं तो ये निरोधिनी कही जा सकती थीं । किन्तु इनका उदयस्थान भिन्न भिन्न है, एक ही गुणस्थानमें रहकर ये एक दूसरेके बंध अथवा उदयका निरोध नहीं करतीं । अतः इन्हें अपरावर्तमान ही जानना चाहिये । इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझना चाहिये ।

---

१ वर्णचतुष्क तैजस कार्मण अगुरुलघु निर्माण और उपघात ।
२ पञ्चसंग्रहमें (गाथा १३८) अपरावर्तमान प्रकृतियोंको गिनाया है ।

११ परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ—तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करती हैं। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समयमें चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

---

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

दशाआम परस्परमें विरोधिनी हैं, अत परावतमाना हैं। इसप्रकार ग्यारहवें-द्वारका वणन जानना चाहिये। बारहवें अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका वणन पहले ही कर चुके हैं। अत ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट बारहद्वारोंका वर्णन यहाँ समाप्त होता है।

१३ क्षेत्रविपाकिद्वार

विशिष्ट अथवा विविध प्रकारसे फल देनेकी शक्तिको विपाक कहते हैं। विपाकका आशय रसोदयसे है। अर्थात् फल देनेके अभिमुख होनेको विपाक कहते हैं। जैसे आम्र आदि फल जब पककर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है, उसीतरह कर्मप्रकृतियाँ भी जब अपना फल देनेके अभिमुख होती हैं, तब उनका विपाककाल समझना चाहिये। इस विपाक अर्थात्

१ ध्रुवबन्धिद्वार, अध्रुवबन्धिद्वार ध्रुवोदयद्वार अध्रुवोदयद्वार, ध्रुवसत्ताकद्वार, अध्रुवसत्ताकद्वार, सर्वदेशघातिद्वार, अघातिद्वार पुण्यप्रकृतिद्वार पापप्रकृतिद्वार, परावर्तमानद्वार अपरावर्तमानद्वार। कर्मप्रकृति (बन्धनकरण, गा० १) की यशोविजयकृत टीकामें इन बारहों ही द्वारोंका कथन है।

२ पञ्चसग्रहमें विपाकके दो भेद किये हैं–एक हेतुविपाक और दूसरा रसविपाक।

यथा–'दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ।
एक्काकि य चउहा जओ चसद्दो विगप्पेण ॥ १६२ ॥'

अर्थात्–विपाककी अपेक्षासे प्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं–हेतुविपाका और रसविपाका। तथा प्रत्येकके चार चार भेद होते हैं–हेतुविपाकाके पुद्गलविपाका, क्षेत्रविपाका, भवविपाका और जीवविपाका, तथा रसविपाकाके चतु स्थानकरसा, त्रिस्थानकरसा द्विस्थानकरसा और एकस्थानकरसा।

रसादयके चारे प्रमुख स्थान हैं—एक क्षेत्र, दूसरा जीव, तीसरा भव और चौथा पुद्गल। तेरहवें द्वारमें इनमेंसे पहले क्षेत्रविपाकप्रकृतियोंको कहते हैं—

खित्तविवागाऽणुपुव्वीउ ॥ १९ ॥

अर्थ—नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी, ये चार प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकिनी हैं ।

भावार्थ—आकाशको क्षेत्र कहते हैं । जिन प्रकृतियोंका उदय क्षेत्रमें ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं । चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी हैं, क्योंकि उन चारोंका उदय विग्रहगतिमें ही होता है । सारांश यह है कि यों तो सभी प्रकृतियोंका उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे लेकर होता है । किन्तु यहाँ क्षेत्रकी मुख्यता है, क्योंकि जब जीव परभवके लिये गमन करता है, तो आनुपूर्वीका उदय उसे उसीतरह उत्पत्तिस्थानके अभिमुख

---

१ 'जा ज समेच्च हेउ विवाग उदय उवेंति पगईओ ।

ता तव्विवागसन्ना सेसमिहाणाइ सुगमाइ ॥१६३॥' पञ्चसंग्रह ।

अर्थात्—जो प्रकृति जिस हेतुको निमित्त करके उदयमें आती है, उसका नाम उसी विपाकसे कहा जाता है ।

२–व्वीओ ख० पु० ।

३ आनुपूर्वीके स्वरूपको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मौलिक मतभेद है, यद्यपि दोनोंही उसे क्षेत्रविपाकी मानते हैं । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब जीव जाता है, तो आनुपूर्वीनामकर्म श्रेणिके अनुसार गमन करते हुए उस जीवको उसके विश्रेणिमें स्थित उत्पत्तिस्थानतक ले जाता है, इसीसे आनुपूर्वीका उदय केवल वक्रगतिमें ही माना गया है । यथा "पुव्वी उदओ वक्के" । प्र० कर्मग्र० गा० ४२ ।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें आनुपूर्वी नामकर्म पहला शरीर छोड़नेके

रखता है, जैसे नाथ बैलको उसके गन्तव्यस्थानके अभिमुख रखती है । अतः आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी है ।

१४-१५ जीव और भवविपाकिद्वार

अब क्रमशः जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को कहते हैं—

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

अर्थ—घातिकर्मोंकी प्रकृतियाँ सैंतालीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थङ्कर, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त) और इनसे इतरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभगचतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भगचतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), उच्छ्वास और जातित्रिक (पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति), ये अठत्तर प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी हैं । चारों आयु भवविपाकिनी हैं ।

और नया शरीर धारण करनेसे पहले, अर्थात् विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्वशरीरके सामान बनाये रखता है । और इसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियोंमें होता है । आनुपूर्वीके भवविपाकी होनेमें एक शङ्का और उसका समाधान निम्न प्रकार है—

"अणुपुव्वीण उदओ किं संकमणेण नत्थि संतेवि ।
जह खत्तहेउओ ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥१६६॥" पञ्चस० ।

शङ्का—विग्रहगतिके बिना भी संक्रमणके द्वारा आनुपूर्वीका उदय होता है, अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गतिकी तरह जीवविपाकी क्यों नहीं माना जाता ? **उत्तर**—संक्रमणके द्वारा विग्रहगतिके बिना भी, आनुपूर्वीका उदय होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्रकी प्रधानतासे विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृतिका नहीं होता ।

भावार्थ—इस गाथामें जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियाँ को बतलाया है। जो प्रकृतियाँ जीवमें ही अपना फल देती हैं, अर्थात् जीवके ज्ञानादिस्वरूपका घात वगैरह करती हैं, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं। यद्यपि सभी प्रकृतियाँ किसी न किसी रूपसे जीवमें ही अपना फल देती हैं, जैसे, आयुका भवधारणरूप विपाक जीवमें ही होता है, क्योंकि आयुकर्मका उदय होनेपर जीवको ही भवधारण करना पड़ता है। तथा, क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणिके अनुसार गमनकरने रूप जीवके स्वभावका स्थिर रखता है। तथा, पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ भी जीवमें ऐसी शक्ति पैदा करती हैं, जिससे वह जीव अमुकप्रकारके ही पुद्गलोंको ग्रहण करता है। तथापि, क्षेत्रविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ क्षेत्र वगैरहकी मुख्यतासे अपना फल देती हैं, जब कि जीवविपाकिप्रकृतियाँ क्षेत्र आदिकी अपेक्षाके बिना ही जीवमें ही अपना साक्षात् फल देती हैं। जैसे, ज्ञानावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही अज्ञानी होता है, शरीर वगैरहमें उनका कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी तरह दर्शनावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही दर्शनगुणका घात होता है, सातवेदनीय और असातवेदनीयके उदयसे जीव ही सुखी और दुःखी होता है, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही सम्यक्त्व और चारित्रगुणका घात होता है, पाँच अन्तरायोंके उदयसे जीव ही दान वगैरह नहीं दे पाता ले सकता। अतः उक्त गाथामें गिनाई गई ७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी कही जाती हैं।

चारों आयु भवविपाकिनी हैं, क्योंकि परभवकी आयुका बन्ध होजाने पर भी, जबतक जीव वर्तमान भवको त्यागकर अपने योग्य भव प्राप्त नहीं करता तबतक आयुकर्मका उदय नहीं होता, अतः आयुकर्म भवविपाकी है। शंका—आयुकर्मकी तरह गतिनामकर्म भी अपने योग्य भवके प्राप्त होनेपर

१ "आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभव जम्हा।
नो सव्वहावि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि ॥१६५॥" पञ्चस०।

ही उदयमें आता है, अतः उसे भवविपाकी क्यों नहीं कहा? उत्तर—आयु-कर्म और गतिकर्मके विपाकमें बहुत अन्तर है। आयुकर्म तो जिस भवके योग्य बांधा जाता है नियमसे उसी भवमें अपना फल देता है। जैसे, मनुष्यायुका उदय मनुष्यभवमें ही हो सकता है, इतरभवमें नहीं हो सकता। अतः किसी भी भवके योग्य आयुकर्मका बंध हो जानेके पश्चात् जीवको उस भवमें अवश्य जन्म लेना पड़ता है। किन्तु गतिकर्ममें यह बात नहीं है, विभिन्न परभवोंके योग्य बंधी हुई गतियोंका उदय हो भवमें संक्रमण वगैरहके द्वारा उदय हो सकता है। जैसे, मोक्षगामी चरमशरीरी जीवके परभवके योग्य बँधी हुई गतियाँ उसी भवमें क्षय हो जाती हैं। अतः गतिनामकर्म भवका नियामक नहीं है, इसलिये वह भवविपाकी नहीं है। इस प्रकार चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ द्वार समाप्त होता है।

१६ पुद्गलविपाकिद्वार

अब सोलहवें द्वारमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिग।
पुग्गलविवागि

अर्थ—नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियाँ बारह[1], तनुचतुष्क (तीन शरीर[2], तीन उपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत आदि तीन, अर्थात् उद्योत, आतप और पराघात, ये छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियोंको गिनाया है।

---

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण और वर्णचतुष्क।

२ तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें आजाते हैं।

शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें ही ये प्रकृतियाँ अपना फल देती हैं, अतः पुद्गलविपाकिनी हैं। जैसे, निर्माण नामकर्मके उदयसे शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें अङ्ग और उपाङ्गका नियमन होता है। स्थिर नामकर्मके उदयसे दांत आदि स्थिर, और अस्थिर नामकर्मके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर होते हैं। शुभ नामकर्मके उदयसे सिर आदि शुभ, और अशुभनामकर्मके उदयसे पैर आदि अशुभ अवयव बनते हैं। शरीरनाम-कर्मके उदयसे ग्रहीत पुद्गल शरीररूप परिणत होते हैं। अङ्गोपाङ्गके उदयसे शरीरमें अङ्ग और उपाङ्गका विभाग होता है। संस्थानकर्मके उदयसे शरीरका आकार विशेष बनता है। संहननकर्मके उदयसे अस्थियोंका बन्धनविशेष होता है। उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत, आतप वगैरह प्रकृतियाँ भी शरीररूप परिणत हुए पुद्गलोंमें ही अपना फल देती हैं। अतः ये सब पुद्गलविपाकिनी हैं।

शङ्का—रति और अरतिकर्म भी पुद्गलोंकी अपेक्षासे ही अपना फल देते हैं, क्योंकि कांटा वगैरहके लगजानेपर अरतिका उदय होता है, और पुष्पमाला, चन्दन वगैरहका स्पर्श होनेपर रतिका उदय होता है। अतः इन्हें पुद्गलविपाकी क्यों नहीं बतलाया?

उत्तर—कांटे वगैरहके न लगनेपर भी, प्रिय और अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्मरण वगैरहसे ही रति और अरति कर्मका विपाकोदय देखा जाता है। यतः ये दोनों पुद्गलके बिना भी उदय में आजाते हैं, अतः पुद्गलविपाकी नहीं हैं। इस प्रकार पुद्गलविपाकिप्रकृतिद्वारका निरूपण जानना चाहिये।

१ "अरइरईण उदओ किन्न भवे पोग्गलाणि सपप्प।
अप्पुट्ठेहिवि किन्नो एव कोहाइयाणपि ॥ १६४॥" पञ्चस०।

२ गो० कर्मकाण्डमें (गा०४७-४९) भी विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है। दोनों ग्रन्थोंमें केवल इतनाही अन्तर है कि कर्मकाण्डमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियां ६२ बतलाई है, जब कि कर्मग्रन्थमें उनकी संख्या ३६ है। इस अन्तरका

१७ प्रकृतिबन्धद्वार

विभिन्न प्रकृतिद्वारों का वर्णन समाप्त करके, अब बन्धद्वारों का कथन करते हुए सबसे पहले बन्धके भेद बतलाते हैं—

बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध।

भावार्थ—आत्मा और कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं। उसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, और प्रदेशबन्ध। रसबन्धका दूसरा नाम अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी है। दिगम्बर साहित्यमें दूसरा नाम अनुभागबन्ध ही विशेषतया प्रचलित है। स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्धके समुदायको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। अर्थात् इस परिभाषाके अनुसार प्रकृतिबन्ध कोई स्वतन्त्र बन्ध नहीं है, किन्तु शेष तीन बन्धोंके समुदायका ही नाम है। दूसरी परिभाषाके अनुसार प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है, और उसके अनुसार जुदे जुदे कर्मोंमें ज्ञानादिको घातने का जो स्वभाव उत्पन्न होता है, वह प्रकृतिबन्ध कहलाता है। दिगम्बर साहित्यमें प्रकृतिबन्धकी यह दूसरी परिभाषा ही पाई जाती है।

कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धन और संघात प्रकृतियोंको छोड़ दिया है और वर्णचतुष्कमें वर्ण आदिके भेद नहीं गिने हैं, जो बीस होते हैं। इस प्रकार १०+१६=२६ प्रकृतियोंको कम करनेसे ६२+२६=३६ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। कर्मप्रकृति (बन्धनकरण, पृ०१२) की उपाध्याय यशोविजयजीकृत टीकामें भी विपाकिप्रकृतियोंका वर्णन किया है। पञ्चसंग्रह गा० १४१-१४२ में विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है।

१ ठिईबंधो दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ॥४३२॥ 'पञ्चस०।

जीवके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलोंमें, अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ रहनेके कालकी मर्यादाके होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपुद्गलोंमें फलदेनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको रसबन्ध कहते हैं। और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। साराश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फलदेनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिणाममें उनका जीवके साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातोंको ही चारबन्ध कहते हैं। इनमेंसे स्वभाव अर्थात् प्रकृतिबन्ध और कर्मपरमाणुओंका अमुक संख्यामें जीवके साथ सम्बद्ध होना अर्थात् प्रदेशबन्ध तो जीवकी योगशक्तिपर निर्भर हैं। तथा स्थिति और फलदेनेकी शक्ति जीवके कषायभावोंपर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बन्धको प्राप्त कर्मपुद्गलोंका स्वभाव और परिमाण भी वैसाही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीवका कषाय जैसी तीव्र या मन्द होगी, बन्धको प्राप्त परमाणुओंकी स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी। जीवकी योगशक्तिको हवा, कषायको चिपकनेवाली गोंद और कर्मपरमाणुओंको रजकणकी उपमा दी जाती है। जैसे हवाके चलते ही धूलिके कण उड़ उड़कर उन स्थानोंपर जमजाते हैं जहाँ कोई चिपकानेवाली वस्तु गोंद वगैरह लगी होती है। उसी तरह जीवकी प्रत्येक शारीरिक, वाचनिक और मानसिक क्रियाके साथ कर्मपुद्गलोंका आत्मामें आश्रव होता है। जीवके संक्लेशपरिणामोंकी सहायता पाकर वे जीवके साथ बंध जाते हैं। वायु तीव्र या मन्द जैसी होती है धूलि भी उसी परिमाणमें उड़ती है, तथा गोंद वगैरह जितनी चिपकाहटवाली होता है धूलि भी उतनी ही स्थिरताके साथ वहाँ ठहर जाती है। इसीतरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्मपरमाणुओंकी संख्या भी उतनी

१ "पयडिपएसबंधा जोगेहिं ... पञ्च०सं।

ही अधिक होती है। तथा कषाय जितनी तीव्र होता है, कर्मपरमाणुओंमें उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभागबन्ध होता है। इन बन्धोंका स्वरूप समझनेके लिये मोदकका दृष्टान्त भी दिया जाता है। जैसे वातनाशक वस्तुओंसे बना मोदक वायुको शान्त करता है, पित्तनाशकवस्तु ओंसे बना मोदक पित्तको शान्त करता है और कफनाशकवस्तुओंसे बना मोदक कफका नाश करता है। तथा कोई मोदक दो दिनतक खराब नहीं होता कोई मोदक एक सप्ताहतक खराब नहीं होता। किसीमें अधिक मीठा होता है, किसीमें कम मीठा होता है। कोई तोलाभर वजनका होता है, कोई छटाँकभरका होता है इत्यादि। इसीतरह कर्मोंमें भी किसीका स्वभाव ज्ञानको आच्छादन करना है, किसीका स्वभाव दर्शनका आच्छादन करना है। किसीकी तीस कोड़ीकोड़ी सागरकी स्थिति है, किसीकी सत्तर कोड़ीकोड़ी सागरकी स्थिति है। किसीमें कम रस है किसीमें अधिक। किसीमें कम कर्मपरमाणु हैं, किसीमें अधिक कर्मपरमाणु हैं। इसप्रकार बन्धोंका स्वरूप समझना चाहिये।

उक्त चार बन्धोंमेंसे पहले प्रकृतिबन्धका वर्णन करते हुए, मूलप्रकृति-स्थान और उनमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बतलाते हैं—

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया णै हु अवत्तव्वो ॥२२॥

अर्थ—मूल प्रकृतियोंके आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छप्रकृतिक और एकप्रकृतिक, इस प्रकार चार बन्धस्थान होते हैं। तथा उन बन्धस्थानोंमें तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बन्ध होते हैं। किन्तु

---

१ "पयइट्ठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ॥२॥" प्र० कर्मग्र०।
२ अड–ख० पु०। ३ न ख० पु०।

बन्धस्थान नहीं होता है।

भावार्थ—एक जीवके एक समयमें जितने कर्मोंका बन्ध होता है, उनके समूहको एक बन्धस्थान कहते हैं। इस बन्धस्थानका विचार दो प्रकारसे किया जाता है—एक मूल प्रकृतियोंमें और दूसरे उन मूलप्रकृतियोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें। पहले बतला आये हैं कि मूलकर्म आठ हैं और उनकी बन्धप्रकृतियाँ एकसौ बीस हैं। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंके ही बन्धस्थान बतलाये हैं।

साधारणतया प्रत्येक जीवके आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्म प्रतिसमय बंधते हैं। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समयमें ही होता है। जब कोई जीव आयुकर्मका भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मोंका बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह ही कर्मोंका बन्ध होता है, क्योंकि आयुकर्म सातवें गुणस्थानतक ही बंधता है और मोहनीयकर्म नवें गुणस्थानतक ही बंधता है, आगे नहीं बंधता। दसवें गुणस्थानसे आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल एक सातवेदनीयकर्मका ही बन्ध होता है, शेष कर्मोंके बन्धका निरोध दसवें गुणस्थानमें ही होजाता है। इस प्रकार मूलप्रकृतियोंके चार ही बन्धस्थान होते हैं—आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक। अर्थात् कोई जीव एक समयमें आठकर्मोंका

१ "जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुम छण्हमेगस्स।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्ह नियट्टी मीस अनियट्टी ॥२०९॥" पञ्चसं०
अर्थात्–'अप्रमत्त गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मोंका बन्ध होता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध होता है, और उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। निवृत्तिकरण, मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुके बिना सात ही कर्मोंका बन्ध होता है।'

प्रथम समयें गुणठाणें सात कर्म बांधे, तेने प्रथम समय भूयस्कार होय, तो ए चोथो भूस्कार कम न कह्यो ? तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक बन्ध थी सातकर्म बन्ध करे तो पण बन्ध स्थानक सातनु एकज छे, ते भणी जुदो न लेख्यो, बन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार लखवाय।"

अर्थात्—"यहाँ कोई पूछता है कि उपशमश्रेणीके ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुक्षय होनेपर मरण करके कोई जीव अनुत्तर विमानमें देव होता है। वहाँ वह प्रथम समयमें चौथे गुणस्थानमें सात कर्मोंका बन्ध करता है, अतः उसके प्रथम समयमें भूयस्कार होता है तो यह चौथा भूयस्कार क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि जो एकको बाँधकर सातकर्मका बन्ध करता है, तो बन्धस्थान सातका ही रहता है, इसलिये इसे जुदा नहीं लिखा है। यदि बन्धस्थानका भेद होता तो जुदा भूयस्कार लिखा जाता।"

इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारोंमें छहको बाँधकर सात का बन्धरूप एक भूयस्कार बतला आये हैं। एकको बाँधकर सातका बन्धरूप भूयस्कारमें भी सातका ही बन्धस्थान होता है, अतः उसे पृथक् नहीं गिनाया है। इसप्रकार उपशमश्रेणिमें उतरनेपर उक्त तीन ही भूयस्कारबन्ध होते हैं।

(भूयस्कारबन्धसे विपरीत अल्पतर बन्ध होता है। अर्थात् अधिक कर्मोंका बन्ध करके कम कर्मोंके बन्ध करनेको अल्पतर बन्ध कहते हैं)। भूयस्कारकी तरह अल्पतर बन्ध भी तीन ही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

आयुकर्मके बन्धकालमें आठकर्मोंका बन्ध करके जब जीव सातकर्मोंका बन्ध करता है तो पहला अल्पतर बन्ध होता है। नवमें गुणस्थानमें सात कर्मोंका बन्धकरके दसवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जब जीव मोहनीयके बिना शेष छह कर्मोंका बन्ध करता है, तब दूसरा अल्पतर बन्ध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्धकरके ग्यारहवें अथवा बारहवें गुणस्था-

में एक कमका बन्ध करनेपर तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। यहा पर भी आठका बन्ध करके छह तथा एकका बन्धरूप और सातका बन्ध करके एक का बन्धरूप अल्पतर बन्ध नहीं हो सक्ते, क्योंकि अप्रमत्त तथा अनिवृत्तिकरण गुणस्थानसे जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थानमें नहीं जा सक्ता और न अप्रमत्तसे एकदम दसवें गुणस्थानमें ही जा सक्ता है। अत अल्पतरबन्ध भी तीन ही जानने चाहियें।

(पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया है, दूसरे समयमें भी उतनेही कर्मोंका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं)। अर्थात् आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका, और एकको बाँधकर एकका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं) चूँकि बन्धस्थान चार हैं अत अवस्थितबन्ध भी चारही होते हैं।

(एक भी कर्मका न बाँधकर पुन कर्मबन्ध करनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं।) यह बन्ध मूलप्रकृतियोके बन्धस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानतक तो बराबर कर्मबन्ध होता है, केवल चौदहवें गुणस्थानमें ही किसी भी कर्मका बन्ध नहीं होता। परन्तु चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचनेके बाद जीव लौटकर नीचेके गुणस्थानोंमें नहीं आता। (अत एक भी कर्मका बन्ध न करके पुन कर्मबन्ध करनेका अवसर ही नहीं आता। इसलिये अवक्तव्य-

१ पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है–

इगछाइ मूलियाणं बन्धट्ठाणा हवंति चत्तारि।
अव्वधगो न बधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि॥ २२०॥"

अर्थात्–मूलप्रकृतियोंके एक प्रकृतिक छह प्रकृतिक वगैरह चार बन्धस्थान होते हैं। यहां एक भी मूलप्रकृतिका बन्ध न करके पुन प्रकृति बन्ध करना सभव नहीं है अत अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

कर्मकाण्ड गा० ४५३ में मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूयस्कार, जिसे यहाँ भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इसी प्रकार बतलाये हैं।

भावार्थ—इस गाथामें भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। उनके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्ध केवल पहले समयमें ही होते हैं और अवस्थितबन्ध द्वितीयादि समयोंमें होता है। जैसे, कोई जीव छह कर्मोंका बन्धकरके सातका बन्ध करता है, यह भूयस्कारबन्ध है। दूसरे समयमें यही भूयस्कार नहीं होसकता, क्योंकि प्रथम समयमें सातका बन्ध करके यदि दूसरे समयमें आठका बन्ध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है, यदि छहका बन्ध करता है तो अल्पतर होजाता है और यदि सातका बन्ध करता है तो अवस्थितबन्ध होजाता है। सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्यामें परिवर्तन हुए बिना अधिक बाँधकर कम बाँधना, कम बाँधकर अधिक बाँधना और कुछ भी न बाँधकर पुनः बाँधना केवल एकबार ही संभव है, जब कि उतने ही कर्म बाँधकर पुनः उतने ही कर्म बाँधना पुनः पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थितबन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बन्धोंमें यह बात नहीं है ॥

मूलप्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका कथन करके, अब उत्तरप्रकृतियोंमें उन्हें बतलाते हैं—

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप, इस प्रकार तीन बन्धस्थान होते हैं। तथा उनमें दो भूयस्कार, दो

१ पञ्चसंग्रहके सप्ततिका नामक अधिकारमें भी दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान इसी प्रकार बतलाये हैं—

"नवछच्चउहा बज्झइ दुगट्ठदसमेण दंसणावरणं ॥ १० ॥"

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं। उनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानमें नौप्रकृतिरूप बन्धस्थान पाया जाता है। उससे आगे आठवें गुण

अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं। मोहनीयकर्मके बाईस प्रकृतिरूप, इक्कीस प्रकृतिरूप, सतरह प्रकृतिरूप, तेरह प्रकृतिरूप, नौ प्रकृतिरूप, पाँच प्रकृतिरूप, चार प्रकृतिरूप, तीन प्रकृतिरूप, दो प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार दस बन्धस्थान होते हैं। तथा, उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

भावार्थ—उत्तरप्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंको गिनाया है। मूलप्रकृतियोंके पाठक्रमके अनुसार पहले ज्ञानावरणकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु ऐसा न करके दर्शनावरण और मोहनीयसे इस प्रकरणके प्रारम्भ करनेका कारण यह है कि भूयस्कार आदि बन्ध केवल तीनही कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें होते हैं। उनके नाम दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म हैं। शेष पाँच कर्मोंमें उनकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मकी पाँचों प्रकृतियाँ एक साथही बंधती हैं और एक साथही रुकती हैं। अतः दोनों कर्मोंका पाँच प्रकृतिरूप एकही बन्धस्थान होता है। और एक बन्धस्थानके होते हुए भूयस्कार आदि बन्ध कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ऐसी दशामें तो सर्वदा ही अवस्थितबन्ध रहता है।

इसीप्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है; अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते। इसीसे **गोम्मट्टसार कर्मकाण्डमें** उत्तर प्रकृतियोंमें भुजाकार आदि बन्धोंका निरूपण

स्थान तक छह प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है और उससे आगे दसवें गुणस्थान तक चार प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है।

करते हुए लिखा है—

"तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दसणावरणमोहणामाण ।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसेय हवे ठाण ॥ ४५८ ॥"

अर्थात्-दर्शनावरण, मोह और नामकर्मके क्रमश तीन, दस और आठ बन्धस्थान होते हैं । और इन्हीमें भुजाकार आदि बन्ध होते हैं । शेष कर्मोंमें केवल एकही बन्धस्थान होता है । अस्तु,

दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदिबन्ध निम्न-प्रकार होते हैं—

दर्शनावरण-इस कर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं और उनमें तीन बन्धस्थान होते हैं । क्योंकि सास्वादन गुणस्थानतक तो सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है । सास्वादन गुणस्थानके अन्तमें स्त्यानर्द्धित्रिकके बन्धकी समाप्ति हो जाती है, अत आगे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमभागतक शेष छह ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है । अपूर्वकरणके प्रथमभागके अन्तमें निद्रा और प्रचलाके बन्धका निरोध होजाता है, अत उससे आगे दसवें गुणस्थानतक शेष चारही प्रकृतियोंका बन्ध होता है । इस प्रकार दर्शनावरणकर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप तीन बन्धस्थान होते हैं । उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे लेकर दसवें गुणस्थानतक किसी

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

'बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दसणावरणमोहनामाण ।
सेसाणेगमवट्ठियबंधो सव्वत्थ ठाणसमो ॥ २२२ ॥'

अर्थात्-दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं, मोहनीयके दस बन्धस्थान हैं नामकर्मके आठ बन्धस्थान हैं, और शेषकर्मोंका एक एकही बन्धस्थान है । जितने बन्धस्थान होते हैं, उतनेही अवस्थितबन्ध होते हैं ।

एक गुणस्थानमें चार प्रकृतियोंका बंध करके, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला भूयस्कारबंध होता है। वहाँसे भी गिरकर जब नौ प्रकृतियोंका बंध करता है, तब दूसरा भूयस्कारबंध होता है। इस प्रकार दो भूयस्कारबंध जानने चाहियें।

अल्पतरबंध उनसे विपरीत होते हैं। अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रकृतियोंका बंध करके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला अल्पतरबंध होता है। और जब छह का बंध करके चारका बंध करता है तो दूसरा अल्पतरबंध होता है। इस प्रकार दो अल्पतर बंध होते हैं। तथा, तीन बंधस्थानोंके तीन ही अवस्थितबंध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दर्शनावरणकर्मका बिल्कुल बंध न करके, जब कोई जीव वहाँसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला अवक्तव्यबंध होता है। और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तरोंमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दर्शनावरणकी छह प्रकृतियोंका बंध करता है। यह दूसरा अवक्तव्यबंध है। इस प्रकार दर्शना॰ भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं।

मोहनीयमें–इस कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाइस हैं। उनमेंसे सम्यक्-

---

१ गो० कर्मकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बंधोंमें कुछ अन्तर है। उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तैंतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध बतलाये हैं जैसा कि उसकी निम्नगाथासे स्पष्ट है–

दस वीस एक्कारस तेत्तीस मोहबंधठाणाणि।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥'

अर्थ–मोहनीयकर्मके दस बंधस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

तेतीस अवस्थित और 'य' से दो अवक्तव्य बन्ध सामान्यसे होते हैं। कर्म ग्रन्थ और कर्मकाण्डके इस विवेचनमें अन्तर पड़नेका यह कारण है कि कर्मग्रन्थमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विवेचन केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़नेकी अपेक्षासे किया है। किन्तु कर्मकाण्डमें उक्त दृष्टिके साथही साथ इस बातका भी ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढ़ते समय जीव किस गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें जा सकता है और नीचे उतरते समय किस गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें आ सकता है। इसके सिवाय मरण की अपेक्षासे भी भूयस्कार आदि बन्ध गिनाये हैं।

कर्मग्रन्थमें एकसे दो, दोसे तीन, तीनसे चार आदिका बन्ध बतलाकर दस बन्धस्थानोंमें नौ भूयस्कार बन्ध बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनके सिवाय ग्यारह भुजाकार और बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं-मरणकी अपेक्षा से जीव एक को बांधकर सतरहका, दो को बांधकर सतरहका, तीनको बांध कर सतरहका, चारको बांधकर सतरहका और पांचको बांधकर सतरहका बन्ध करता है अत पांच भुजाकार तो मरणकी अपेक्षासे होते हैं। तथा, प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध करके कोई जीव पांचवे गुणस्थानमें आकर तेरहका बन्ध करता है। कोई जीव चौथे गुणस्थानमें आकर सतरहका बन्ध करता है, कोई जीव दूसरे गुणस्थानमें आकर इक्कीसका बन्ध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थानमें आकर बाईसका बन्ध करता है, क्यों कि प्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर जीव नीचेके सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अत नौके चार भुजाकार बन्ध होते है। तथा, इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानमें तेरहका बन्ध करके सतरह, इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अत तेरहके तीन भुजाकार होते हैं। तथा, सतरह को बांधकर इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अत सतरहके दो भुजाकार होते हैं। इस प्रकार नौके चार, तेरहके तीन और

एक गुणस्थानमें चार प्रकृतियोंका बंध करते, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला भूयस्कारबंध होता है। वहाँसे भी गिरकर जब नौ प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कारबन्ध होता है। इस प्रकार दो भूयस्कारबंध जानने चाहियें।

अल्पतरबंध उनसे विपरीत होते हैं। अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रकृतियोंका बंध करके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला अल्पतरबंध होता है। और जब छह का बंध करके चारका बंध करता है तो दूसरा अल्पतरबंध होता है। इस प्रकार दो अल्पतर बंध होते हैं। तथा, तीन बंधस्थानोंके तीन ही अवस्थितबंध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दर्शनावरणकर्मका बिल्कुल बंध न करके, जब कोई जीव वहाँसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रकृतियोंका बंध करता है तो पहला अवक्तव्यबंध होता है। और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तरोंमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दर्शनावरणकी छह प्रकृतियोंका बंध करता है। यह दूसरा अवक्तव्यबंध है। इस प्रकार दर्शनावरणकर्ममें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं।

मोहनीय-इस कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाइस हैं। उनमेंसे सम्यक्-

---

१ गो० कर्मकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बंधोंमें कुछ अन्तर है। उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध बतलाये हैं जैसा कि उसकी निम्नगाथासे स्पष्ट है-

"दस वीस एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥"

अर्थ-मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

बन्ध है और दूसरे समयका अवस्थित। जिस प्रकार भूयस्कार आदि बन्धों का निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार यदि अवस्थितबन्धका भी निरूपण किया जाये तो कहना होगा कि बाईसका बन्ध करके बाईसका बन्ध करना, इक्कीसका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध करना, सतरहका बन्ध करके सतरह का बन्ध करना आदि अवस्थित बन्ध है। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल अवस्थित बन्ध उतने ही होते हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं। इसीसे कर्मग्रन्थमें मोहनीयके अवस्थितबन्ध दसही बतलाये हैं। किन्तु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें प्रायः अवस्थितबन्ध होता है। अतः इन उपपदपूर्वक होनेवाले अवस्थितबन्ध भी उतनेही ठहरते हैं जितने कि उक्त तीनों बन्ध होते हैं। इसीसे कर्मकाण्डमें उक्त तीनों बन्धोंके बराबर ही अवस्थितबन्धका परिमाण बतलाया है। अवक्तव्यबन्ध कर्मग्रन्थके ही समान जानने चाहियें। इस प्रकार ये चारों बन्ध सामान्यसे कहे गये हैं।

कर्मकाण्डमें विशेषरूपसे भी भुजाकार आदिको गिनाया है, जिनकी संख्या निम्न प्रकार है–

"सत्तावीसहियं सयं पणदालं पचहत्तरिहियं सयं।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥ ४७१ ॥"

अर्थ–विशेषपनेसे अर्थात् भङ्गोंकी अपेक्षासे एक सौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं पैंतालीस अल्पतर होते हैं और एक सौ पचहत्तर अवक्तव्य बन्ध होते हैं।

इन बन्धोंको जानने के लिये पहले भङ्गका जानना आवश्यक है। एक ही बन्धस्थानमें प्रकृतियोंके परिवर्तनसे जो विकल्प होते हैं, उन्हें भङ्ग कहते हैं। जैसे बाइस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीनों वेदोंमें से एक वेदका और हास्य रति और शोक अरतिके दो युगलोंमें से एक युगलका बन्ध होता है अतः उसके ३×२=६ भङ्ग होते हैं, अर्थात् बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान को

सतरहके दो भुजाकार बन्ध होते हैं। किन्तु कर्मग्रन्थमें प्रत्येक बन्धस्थानका एक एक इस प्रकार तीन ही भुजाकार बतलाये हैं। अत शेष छह रह जाते हैं। तथा मरणकी अपेक्षासे पाँच भुजाकार ऊपर बतला आये हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डमें ५+६=११ भुजाकार अधिक बतलाये हैं।

तथा कर्मग्रन्थमें अल्पतरबन्ध आठ बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है, जो इस प्रकार है–कर्मग्रन्थमें बाइस को बाँधकर सतरहका बन्धरूप केवल एकही अल्पतर बन्ध गिनाया है किन्तु पहले गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठें गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अत बाईसको बाँधकर सतरह तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण बाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके तीन अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा सतरहका बन्ध करके तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण सतरहके बन्धस्थानके दो अल्पतर बन्ध होते हैं। इस प्रकार बाइसके तीन और सतरहके दो अल्पतर बन्धोंमें से कर्मग्रन्थमें केवल एक एकही अल्पतर बतलाया है। अत तीन शेष रह जाते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाण्डमें अधिक हैं।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें भी यदि उतनी ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जितनी प्रकृतियोंका बन्ध पहले समयमें हुआ था, तो उसे अवस्थित बन्ध कहते हैं। अत कर्मकाण्डमें भुजाकार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्धोंकी संख्याके बराबरही अवस्थितबन्धकी संख्या बतलाई है। यदि दूसरे समयमें होनेवाले बन्धके ऊपरसे भूयस्कार अल्पतर, अथवा अवक्तव्य पदोंको अलग करके उनकी वास्तविकता पर दृष्टि दी जाये तो मूल अवस्थितबन्ध उतनेही ठहरते हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं। जैसे, किसी जीवने इक्कीसका बन्ध करके प्रथम समयमें बाईसका बन्ध किया और दूसरे समयमें भी बाईसका ही बन्ध किया। यहां प्रथम समयका बन्ध भूयस्कार

सतरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार १२+८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते है। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवे गुणस्थानमें पांच, चार आदि पांच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्कं।
थूले पणगादीणं एक्केक्क अंतिमे सुण्णं॥ ४७२॥"

अर्थ–पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, और नौ का बन्ध करने पर ६+१=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भङ्ग होते हैं। दूसरे गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता क्योंकि दूसरके बाद पहलाही गुणस्थान होता है और उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध करके बाइसका बन्ध

कोई जीव हास्य रति और पुरुषवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और पुरुषवेदके साथ बांधता है। कोई हास्य रति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, इसी तरह नपुंसकवेदमें भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार बाइस प्रकृतिक बन्धस्थान भिन्न भिन्न जीवोंके छह प्रकारसे होता है। इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके चार भङ्ग होते हैं क्योंकि उसमें एक जीवके एक समयमें दो वेदोंमें से किसी एक वेदका और दो युगलोंमें से किसी एक युगलका बन्ध होता है। सारांश यह है कि अपने अपने बन्धस्थानमें सम्भवित वेदों को और युगलोंको परस्परमें गुणा करनेसे अपने अपने बन्धस्थानके भङ्ग होते हैं। जो इस प्रकार हैं–

'छब्बावीसे चदु इगवीसे दो दो हवंति छट्ठोत्ति।
एक्कक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥ ४६७ ॥"

अर्थ–मोहनीयके बन्धस्थानोंमें से बाईसके छह, इक्कीसके चार, इसके आगे प्रमत्तगुणस्थान तक सम्भवित बन्धस्थानोंके दो दो और उसके आगे सम्भवित बन्धस्थानोंके एक एक भङ्ग होते हैं। इन भङ्गोंकी अपेक्षासे एकसौ सत्ताइस भुजाकार निम्नप्रकार हैं–

"णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो दो य।
थूले पणगादीणं तियं तियं मिच्छादिभुजगारा ॥ ४७२ ॥"

अर्थ–पहले गुणस्थानमें एक भी भुजाकार बन्ध नहीं होता, क्योंकि बाइस प्रकृतिक बन्धस्थानसे अधिक प्रकृतियोंवाला कोई बन्धस्थान ही नहीं है जिसके बांधनेसे वहां भुजाकार बन्ध सम्भव हो। दूसरे गुणस्थानमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि इक्कीसको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर इक्कीसके चार भङ्गोंको और बाइसके छह भङ्गोंको परस्परमें गुणा करने पर ४×६=२४ भुजाकार होते हैं। तीसरे में बारह भुजाकार होते हैं, क्योंकि

सत्तरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार १२-८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठेमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते हैं। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवे गुणस्थानमें पांच, चार आदि पांच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीस णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्क।

थूले पणगादीणं एक्केक्क अंतिमे सुण्ण ॥ ४७३ ॥"

अर्थ-पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, और नौ का [illegible] पर ६+१=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भङ्ग होते हैं [illegible] भी अल्पतर नहीं होता क्योंकि [illegible] उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध [illegible]

होनानेसे चारका ही बंध होता है। तीसरे भागमें संज्वलन क्रोधके बंधका अभाव होजानेके कारण तीनही प्रकृतियोंका बंध होता है। चौथे भागमें संज्वलनमानका बंध न होनेसे दो प्रकृतियोंका ही बंध होता है। पाँचवे भागमें संज्वलन मायाका भी बंध न होनेसे केवल एक संज्वलनलोभका ही बंध होता है। उसके आगे बादरकषायका अभाव होनेसे उस एक प्रकृति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्मके दस बंधस्थान जानने चाहियें। इन दस बंधस्थानोंमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं, जो निम्नप्रकार हैं—

एकको बाँधकर दो का बंध करनेपर पहला भूयस्कारबंध होता है। दो का बाँधकर तीनका बंध करने पर दूसरा भूयस्कार होता है। इसी प्रकार तीनको बाँधकर चारका बंध करनेपर तीसरा, चारको बाँधकर पाँचका बंध करनेपर चौथा, पाँचका बंध करके नौका बंध करनेपर पाँचवा, नौका बंध करके तेरहका बंध करनेपर छटा, तेरहका बंध करके सतरहका बंध करने पर सातवाँ, सतरहका बंध करके इकीसका बंध करनेपर आठवाँ, और इकीसका बंध करके बाईसका बंध करनेपर नौवाँ भूयस्कारबंध होता है।

आठ अल्पतर बंध इस प्रकार हैं—बाईसका बंधकरके सतरहका बंध करनेपर पहला अल्पतर होता है। सतरहका बंध करके तेरहका बंध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसीप्रकार तेरहका बंधकरके नौ का बंध करनेपर तीसरा, नौ का बंधकरके पाँचका बंधकरनेपर चौथा, पाँचका बंध करके चारका बंध करनेपर पाँचवा, चारका बंधकरके तीनका बंध करने पर छटा, तीनका बंध करके दोका बंध करनेपर सातवाँ और दो का बंध-करके एकका बंध करनेपर आठवाँ अल्पतरबंध होता है। यहाँ बाईसका बंधकरके इकीसका बंधरूप अल्पतरबंध नहीं बतलाया है, क्योंकि बाईस का बंध पहले गुणस्थानमें होता है और इकीसका बंध दूसरे गुणस्थानमें, अतः यदि जीव पहले गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जासकता तो यह अल्प-

तर बध बन सकता था । किंतु मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, प्रत्युत उपशमसम्यग्दृष्टि ही सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है, जैसा कि कर्मप्रकृति (उपशम क०) और उसकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

'छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छज्जा ॥२३॥"

चूर्णि-"उवसमत्तद्धातो पडमाणो छावलिगसेसाए उव समसमत्तद्धाते परति उक्कोसाते, जहन्नेण एक्कसमयसेसाए उवसमसमत्तद्धाए सासायणसम्मत्त कोति गच्छेज्जा, णो सव्वे गच्छेज्जा।"

अर्थात्—उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली शेष रहनेपर कोई कोई उपशम सम्यग्दृष्टी सासादन सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ।

अत बाईसका बध करके इक्कीसका बधरूप अल्पतर बध सम्भव नहीं है, इसलिये अल्पतरबध आठ ही होते हैं । यत बधस्थान दस हैं अत अवस्थितबध भी दस ही होते हैं ।

अवक्तव्यबन्ध निम्नप्रकार है— ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका बध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होकर नवमें गुणस्थानमें आता है और वहाँ सज्वलन लोभका बध करता है, तब पहला अवक्तव्यबध होता है । यदि ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुका क्षय होजानेके कारण मरणकरके कोई जीव अनुत्तरवासी देवोंमें जन्म लेता है और वहाँ सतरह प्रकृतियोंका बध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबध होता है ।(इस प्रकार मोहनीयकर्मके नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबध होते हैं)।

अब नामकर्मकी प्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बधोंका निरूपण करते हैं—

तिपणछअडनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
छस्सगअडतिबंधा सेसेसु य ठाणमिक्किक्क ॥ २५ ॥

अर्थ—तेइस प्रकृतिरूप, पचीस प्रकृतिरूप, छब्बीस प्रकृतिरूप, अट्ठा-

इस प्रकृतिरूप, उनतीस प्रकृतिरूप, तीस प्रकृतिरूप, इकतीस प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार नामकर्मके आठ बन्धस्थान होते हैं। और उनमें छह भूयस्कारबन्ध, सात अल्पतरबन्ध, आठ अवस्थित बन्ध और तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है।

भावार्थ–इस गाथामें नामकर्मके बन्धस्थानोंको गिनाकर उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंकी सख्या बतलाई है। जिसका खुलासा निम्नप्रकार है–

नामकर्मकी समस्त बन्धप्रकृतियाँ ६७ हैं, किन्तु उनमेंसे एक समयमें एक जीवके तेईस पचीस आदि प्रकृतियाँ ही बन्धको प्राप्त होती हैं, अतः नामकर्मके बन्धस्थान आठ ही होते हैं। अबतक जिन कर्मोंके बन्धस्थान बतला आये हैं, वे कर्म जीवविपाकी हैं–जीवके आत्मिकगुणों पर ही उनका असर पड़ता है। किन्तु नामकर्मका बहुभाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवोंकी शारीरिक रचनामें ही होता है, अतः भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे एकही बन्धस्थानकी अवान्तर प्रकृतियोंमें अन्तर पड़ जाता है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं, चारों गतिके सभी जीवोंके आठवें गुणस्थानतक इनका बन्ध अवश्य होता है। इन प्रकृतियोंके साथ तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडक संस्थान, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे एक तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे एक, अपर्याप्त अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, और अयशःकीर्ति, इन चौदह प्रकृतियों के मिलानेसे तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यह स्थान एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित बधता है, अर्थात् इस स्थानका बन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कायमें ही जन्म लेता है। इन तेईस प्रकृतियोंमें से अपर्याप्त प्रकृतिको कमकरके, पर्याप्त, उच्छ्वास, और पराघात प्रकृतियोंके मिलाने से एकेन्द्रियपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। उनमसे स्थावर,

पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघातको घटाकर, त्रस,अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गके मिलानेसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका बन्धस्थान होता है। उसमें द्वीन्द्रिय जातिके स्थानमें त्रीन्द्रिय जातिके मिलानेसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। इसप्रकार त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रिय जातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पचीसका स्थान होता है। तथा इसमें तिर्यञ्चगतिके स्थानमें मनुष्यगतिके मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्तयुत पचीसका स्थान होता है। इस प्रकार पचीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह प्रकारका होता है और उसके बाधनेवाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकोंमें और द्वीन्द्रियको आदि लेकर सभी अपर्याप्तक तिर्यञ्च और मनुष्योंमें जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगतिसहित पचीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन, और औदारिकअङ्गोपाङ्गको घटाकर, स्थावर, पर्याप्त, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, और आतप तथा उद्योतमें से किसी एकके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्तयुत छब्बीस का स्थान होता है। इस स्थानका बन्धक जीव एकेन्द्रियपर्याप्तक कायमें जन्म लेता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से एक, शुभ और अशुभमें से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमें से एक, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन प्रकृतिरूप देवगति सहित अट्ठाइसका बन्धस्थान होता है। इस स्थानका बन्धक मरकर देव होता है। तथा, नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, हुण्ड संस्थान, नरकानुपूर्वी,

वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, और पराघात, इन प्रकृतिरूप नरकगतियोग्य अट्ठाईसका बंधस्थान होता है।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति अथवा अयशःकीर्ति, तिर्यञ्चगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुण्डसंस्थान, तिर्यगानुपूर्वी, सेवार्तसंहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका बंधस्थान होता है। इसमें द्वीन्द्रियके स्थानमें त्रीन्द्रियजातिके मिलानेसे त्रीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका स्थान होता है। त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रियजातिके मिलाने से चतुरिन्द्रियजातियुत उनतीसका बंधस्थान होता है। चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रियजातिके मिलानेसे, पञ्चेन्द्रियुत उनतीसका बंधस्थान होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलोंमेंसे एक एक प्रकृति बंधती है। तथा, छह संस्थानों और छह संहननोंमें से किसी भी एक संस्थान और एक संहननका बंध होता है। इसमें तिर्यग्गति और तिर्यगानुपूर्वीको घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वीके मिलाने से पर्याप्तमनुष्यसहित उनतीसका बंधस्थान होता है। नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थङ्कर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थङ्कर सहित उनतीसका बंधस्थान होता है। इसप्रकार उनतीसप्रकृतिक बंधस्थान छह होते हैं, इन स्थानोंका बंधक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीसके

चार बन्धस्थानोंमें उद्योत प्रकृतिके मिलानेसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीसके चार बन्धस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य-सहित उनतीसके बन्धस्थानमें तीर्थङ्कर प्रकृतिके मिलानेसे मनुष्यगति सहित तीसका बन्धस्थान होता है। देवगति सहित उनतीसके बन्धस्थानमें से तीर्थङ्कर प्रकृतिको घटाकर आहारकद्विकके मिलानेसे देवगतियुत तीसका बन्धस्थान होता है। इसप्रकार तीसप्रकृतिक बन्धस्थान भी छह होते हैं। देवगतिसहित उनतीसके बन्धस्थानमें आहारकद्विकके मिलानेसे देवगति-सहित इकतीसका बन्धस्थान होता है। एकप्रकृतिक बन्धस्थानमें केवल एक यशःकीर्ति का ही बन्ध होता है।

भूयस्कारादिबन्ध—इन बन्धस्थानोंमें छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्तव्य बन्ध होते हैं। तेईसका बन्ध करके पचीस का बन्ध करना, पचीसका बन्ध करके छब्बीसका बन्ध करना, छब्बीसका बन्ध करके अट्ठाइसका बन्ध करना, अट्ठाइसका बन्ध करके उनतीसका बन्ध करना, उनतीसका बन्ध करके तीसका बन्ध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बन्ध करके इकतीसका बन्ध करना, इसप्रकार छह भूयस्कार बन्ध होते हैं। नवें गुणस्थानमें एक यशःकीर्तिका बन्ध करके, वहांसे च्युत होकर, आठवें गुणस्थानमें जब कोई जीव तीस अथवा इकतीसका बन्ध करता है, तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता, क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इकतीसका ही बन्ध करता है और यही बन्ध पांचवें और छठे भूयस्कारमें भी होता है अतः इसे पृथक नहीं गिना है। इसप्रकार भूयस्कारबन्ध छह होते हैं।

---

१ कर्मप्रकृतिके सत्त्वाधिकार की गाथा ५२ की टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने कर्मोंके बन्धस्थानों तथा उनमें भूयस्कारादिबन्धों का वर्णन किया है। नामकर्म के बन्धस्थानोंमें छह भूयस्कारबन्धों को बतलाकर, सातवें भूयस्कारके सम्बन्धमें उन्होंने एक मतका उल्लेख करके, उसका समाधान करते हुए जो चर्चा की है उसका सारांश निम्नप्रकार है—

अब अल्पतर बन्ध बतलाते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बन्ध करके एकप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करनेपर पहला अल्पतर होता है। आहारकद्विक और तीर्थङ्करसहित इकतीसका बन्ध करके जो जीव देवलोकमें उत्पन्न होता है, वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह दूसरा अल्पतरबन्ध है। वही जीव स्वर्गसे च्युत होकर, मनुष्यगतिमें जन्म लेकर जब देवगतिके योग्य तीर्थङ्करसहित उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। जब कोई

शङ्का—एक प्रकृतिका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करनेपर सातवाँ भूयस्कारबन्ध भी होता है। शास्त्रान्तरमें भी सात भूयस्कार बतलाये हैं। जैसा कि शतकचूर्णिमें लिखा है—' एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भुओगारा सत्त।" अर्थात् एकको बाँधकर इकतीसका बन्ध करता है, अतः सात भूयस्कार होते हैं।

उत्तर—यह ठीक नहीं है; क्योंकि अट्ठाइस आदि बन्धस्थानोंके भूयस्कारोंको बतलाते हुए इकतीसके बन्धरूप भूयस्कारका पहले ही ग्रहण कर लिया है। अतः एक की अपेक्षासे उसे पृथक् नहीं गिना जा सकता। यहाँ भिन्न भिन्न बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेदोंकी विवक्षा नहीं की है। ऐसा होनेपर बहुतसे भूयस्कार हो जायेंगे। जैसे कभी अट्ठाईसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है, कभी उनतीसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है और कभी एकका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है। तथा कभी तेइसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है और कभी पच्चीसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है। इस प्रकार सातसे भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते हैं। किन्तु यहाँ यह इष्ट नहीं है। अतः भिन्न २ बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेद नहीं बतलाये हैं।

तिर्यञ्च या मनुष्य तिर्यग्गतिके योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियोंका बंध करके, विशुद्ध परिणामोंके कारण देवगतिके योग्य अट्ठाईसका बंध करता है, तब चौथा अल्पतरबन्ध होता है। अट्ठाईसप्रकृतिक बंधस्थानका बंध करके, संक्लेश परिणामोंके कारण जब कोई जीव एकेन्द्रियके योग्य छब्बीस प्रकृतियोंका बंध करता है, तब पांचवाँ अल्पतरबंध होता है। छब्बीसका बंध करके पचीसका बंध करने पर छठा अल्पतरबन्ध होता है। तथा, पचीसका बंध करके तेईसका बंध करने पर सातवाँ अल्पतरबंध होता है। इसप्रकार सात अल्पतरबंध होते हैं। तथा, आठ बंधस्थानोंकी अपेक्षासे आठही अवस्थितबंध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें नामकर्मकी एक भी प्रकृतिको न बांधकर, वहाँ से च्युत होकर, जब कोई जीव एक प्रकृतिका बंध करता है तो पहला अवक्तव्य बंध होता है। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके कोई जीव अनुत्तरों में जन्म लेकर यदि मनुष्यगतिके योग्य तीसका बंध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबंध होता है। और यदि मनुष्यगतिके योग्य उनतीसका बंध करता है तो तीसरा अवक्तव्यबंध होता है। इसप्रकार तीन अवक्तव्यबंध होते हैं।

इसप्रकार उक्त गाथाके तीन चरणोंके द्वारा नामकर्मके बंधस्थानों

१ कर्मकाण्डमें गा० ५६५से ५८२ तक नामकर्मके भूयस्कार आदि बंधोंकी विस्तारसे चर्चाकी है। उसमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कार आदि बंध बतलाये हैं। और जितने प्रकृतिक स्थानको बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध संभव है, तथा उन उन स्थानोंके जितने भङ्ग हो सकते हैं, उन सबकी अपेक्षासे भूयस्कार आदिको बतलाया है, जैसा कि मोहनीय कर्ममें बतला आये हैं। किन्तु उसमें दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें अवस्थित और अवक्तव्यबंधोंको नहीं बतलाया है।

और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निर्देश करके शेषकर्मोंके बन्धस्थानोंको बतलाते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि ज्ञानावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं। तथा, वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी उत्तर-प्रकृतियोंमें से भी एक समयमें एक एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। इसलिये इन कर्मोंमें भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते हैं, क्योंकि जहां एकही प्रकृतिका बन्ध होता है, वहाँ थोड़ी प्रकृतियोंको बाँधकर अधिकको बाँधना अथवा अधिकको बाँधकर कमको बाँधना कैसे संभव हो सकता है? किन्तु वेदनीयके सिवाय शेष चारकर्मोंमें अवक्तव्यबन्ध और अवस्थितबन्ध होते हैं। क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, अन्तराय और गोत्र कर्मका बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होता है और नीचेके गुणस्थानमें आकर पुनः उन कर्मोंका बन्ध करता है, तब प्रथम समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थितबन्ध होता है। तथा त्रिभागमें जब आयुकर्मका बन्ध होता है, तब प्रथमसमयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थित बन्ध होता है। किन्तु वेदनीयकर्ममें केवल अवस्थित ही बन्ध होता है, अवक्तव्यबन्ध नहीं होता, क्योंकि वेदनीय कर्मका अबन्ध अयोगकेवली गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहांसे गिरकर जीव नीचे नहीं आता, अतः उसका पुनः बन्ध नहीं होता।

१८. स्थितिबन्धद्वार

प्रकृतिबन्धका वर्णन करके अब स्थितिबन्धका वर्णन करते हैं। सबसे प्रथम मूलकर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसेयर चउसु उदही निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥

अर्थ—नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथासे बन्धके दूसरे भेद स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। बन्ध होजाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्माके साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है। बंधनेवाले कर्मोंमें इस स्थितिकालकी मर्यादाके पड़नेको ही स्थितिबन्ध कहते हैं। स्थिति दो प्रकारकी होती है—एक उत्कृष्टस्थिति और दूसरी जघन्यस्थिति। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। यह स्थिति इतनी अधिक है कि संख्याप्रमाणके द्वारा उसका बतलाना अशक्यसा है अतः उसे उपमाप्रमाणके द्वारा बतलाया गया है। उपमाप्रमाणका ही एक भेद सागरोपम है और

१ प्रकृतिबन्धका निरूपण करनेके पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु लघुकर्मस्तवकी टीकामें तथा बन्धस्वामित्वकी टीकामें उसका विस्तारसे वर्णन किया है, अतः उसे वहींसे जान लेना चाहिये। ऐसा इस कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है। देखो, पृ० २६।

२–सिय ख० पु०।

३ सागरोपमके स्वरूपको जाननेके लिये ८५वीं गाथा देखें।

एक करोड़ को एक करोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोटिकोटि कहते हैं। इन कोटिकोटि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेद नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुत्तु अकसायठिइ बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

---

१ इतर दर्शनोंमें कर्मोंकी स्थिति तो देखनेमें नहीं आई किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं-एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविध, नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्-दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयम्।" अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूल कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय ।" योगद० २-१२।

२ पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है—

"मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाण मुहुत्तंतो ॥ २३९ ॥"

मुहूर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पाच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ–स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है। अत दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमसे एक वेदनाय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बधता है, शेष सातकर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बधते हैं। अत स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अत अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमे उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने '**मुत्तु अकसायठिइ**' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहापर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है॥

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

अर्थ–पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अट्ठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, प्रथम संस्थान और प्रथम संहननकी उत्कृष्ट स्थिति दस दस कोटिकोटि सागर है और आगेके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो दो सागरकी वृद्धि होती जाती है। अर्थात्

एक क्रोड़ को एक क्रोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोटिकोटि कहते हैं। इन कोटिकोटि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदों नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुत्तु अकसायठिइ बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

---

१ इतर दर्शनोंमें कर्मों की स्थिति तो देखनेमें नहीं आई किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं-एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविधं नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्-दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्याय वेदनीयम्।' अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः।' योगद० २-१२।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

'मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाण मुहुत्तंतो ॥ २३६ ॥'

मुहुत, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पाच कर्मोंकी अन्तमुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ–स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसव गुणस्थान तक ही होता है। अत दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बधता है, शेष सातकर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बधते हैं। यत स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अत अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बंधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने 'मुत्तु अकसायठिइ' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहापर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है॥

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं–

विग्घावरणअसाए तीस अहार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

अर्थ–पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अठारह

दूसरे सस्थान और दूसरे सहननकी उत्कृष्टस्थिति बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तीसरे सस्थान और तीसरे सहननकी स्थिति चौदह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। इसी प्रकार चौथेकी सोलह, पाँचवेकी अट्ठारह और छठेकी बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति जाननी चाहिये।

भावार्थ—इस गाथाम कुछ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। असलम उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिसे मूल प्रकृतियोंकी स्थिति कोई जुदी नहीं होती। किन्तु उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिमसे जो स्थिति सबसे अधिक होता है, वही मूल प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति मान ली गई है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी भी उतनी ही स्थिति है, जितनी मूल कर्मोंकी बतला आये हैं। किन्तु नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिम अधिक विषमता पाई जाती है। उदाहरणके लिये सस्थान और सहनन को ही ले लीजिये। प्रथम सस्थान और सहनन की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर है और ऊपरके प्रत्येक सस्थान और प्रत्येक सहननकी स्थितिमें दो कोटिकोटि सागरकी वृद्धि होते होते, अन्तिम सस्थान और अन्तिम सहननकी स्थिति बीस कोटिकोटि सागर हो जाती है। इस विषमताका कारण है कषायकी हीनाधिकता। जब जीवके भाव अधिक सक्लिष्ट होते हैं, तो स्थितिबन्ध भी अधिक होता है और जब कम सक्लिष्ट होते हैं तो स्थितिबन्ध भी कम होता है। इसीलिये जितनी भी प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, प्राय सभीकी स्थिति अप्रशस्त प्रकृतियोंकी स्थितिसे कम होती है, क्योंकि उनका बध प्रशस्त परिणाम वाले जीवके ही होता है॥

चालीस कसाएसु मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दनिलाईणं॥ २९॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सोलह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थिति

चालीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। मृदुस्पर्श, लघुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श, सुरभिगंध, श्वेतवर्ण और मधुररस, नामकर्मकी इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। आगेके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रसकी स्थिति अढाई कोटिकोटि सागर अधिक अधिक जाननी चाहिये। अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढे बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। लालवर्ण और कषायरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। नीलवर्ण और कटुकरस नाम कर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढे सतरह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। और कृष्णवर्ण और तिक्तरसकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

दस सुहविहगइउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रशस्तविहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक, स्थिर आदि छह अर्थात् स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश कीर्ति, पुरुषवेद, रति और हास्य प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर प्रमाण है। और मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, स्त्रीवेद, और सातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

भय-कुच्छ-अरइ-सोए विउव्वि-तिरि-उरल-निरयदुग-नीए।
तेयपण अथिरछक्के तसचउ-थावर-इग-पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु-कुखगइ-सासचउ-गुरु-कक्खड-रुक्ख-सीय-दुग्गंधे।

---

१ कर्मप्रकृति वगैरहमें वर्णचतुष्कके अवान्तर भेदोंकी स्थिति नहीं बतलाई है, किन्तु पञ्चसंग्रहमें बतलाई है। यथा—

"सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाण।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी, अविलहालिद्दपुव्वाण ॥ २४० ॥"

वीसं कोडाकोडी एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥

अर्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नीचगोत्र, तैजसशरीर आदि पाँच, अर्थात् तैजस शरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, अस्थिर आदि छह, अर्थात् अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, और अयश कीर्ति, त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, नपुंसकवेद, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क अर्थात् उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत, दुर्गन्ध, इन बयालीस प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अबाधा जानना चाहिये।

भावार्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्टस्थिति बन्धका निरूपण करते हुए, उक्त गाथाके अन्तमें उनकी अबाधाकालका प्रमाण भी बतला दिया है। बंधनेके बाद जबतक कर्म उदयमें नहीं आता, तब तकका काल अबाधाकाल कहा जाता है। कर्मोंकी उपमा मादक द्रव्यसे दी जाती है। मदिराके समान आत्मापर असर डालनेवाले कर्मकी जितनाही अधिक स्थिति होती है उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधनेके बाद बिना फल दिये ही आत्मामें पड़ा रहता है। उसे ही अबाधाकाल कहते हैं। उस कालमें ही कर्म निषेकके उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतनेपर अपना फल देना शुरू कर देता है। इसीसे ग्रन्थकारने कर्मोंका अबाधाकाल उनकी स्थितिके

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है—

"दस सेसाण बीसा एवइयाबाह वाससया ॥ २४३ ॥"

२ दिगम्बर परम्परामें इसे आबाधा कहते हैं।

अनुपातसे बतलाते हुए कहा है कि जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति होती है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। इसका आशय यह है कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज एक कोटिकोटि सागरकी स्थिति को लेकर जो कर्म बाधा है, वह आजसे सौ वर्षके बाद उदयमें आवेगा और तबतक उदयमें आता रहेगा जबतक एक कोटिकोटि सागर प्रमाणकाल समाप्त न होगा। कहनेका सारांश यह है कि ऊपर कर्मोंकी जो उत्कृष्टस्थिति बतलाई है तथा आगे भी बतलावेंगे उस स्थितिमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसीसे शास्त्रकारोंने स्थितिके दो भेद किये हैं—एक कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति अर्थात् बंधनेके बाद जबतक कर्म आत्माके साथ ठहरता है, उतने कालका परिमाण, और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् अबाधाकाल-रहित स्थिति। यहां पहली ही स्थिति बतलाई गई है। दूसरी स्थिति जाननेके लिये पहली स्थितिमेंसे अबाधाकाल कमकर देना चाहिये। जो इस प्रकार है—

पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, असातवेदनीय और नौ दर्शनावरण कर्मोंमें से प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटिकोटि सागर है और एक कोटिकोटि सागर की स्थितिमें एकसौ वर्ष अबाधाकाल होता है, अतः उनका अबाधाकाल ३०×१००=तीन हजार वर्ष जानना चाहिये। इसी अनुपातके अनुसार सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिकका अबाधाकाल अट्ठारहसौ वर्ष, समचतुरस्र-संस्थान और वज्रऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और ऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वातिसंस्थान और नाराचका अबाधाकाल चौदहसौ वर्ष, कुब्ज-

---

१ "इह द्विधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना।" कर्मप्र० मलय० टी० पृ० १६३।

संस्थान और अर्धनाराचका अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामनसंस्थान और कीलकसंहननका अबाधाकाल अट्ठारह सौ वर्ष, हुंडसंस्थान और सेवार्तसंहननका दो हजार वर्ष, सोलह कषायोंका चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुर रसका एक हजार वर्ष, हरितवर्ण और आम्लरसका साढ़े बारहसौ वर्ष, लालवर्ण और कषायरसका पन्द्रह सौ वर्ष, नीलवर्ण और कटुकरसका साढ़े सतरहसौ वर्ष, कृष्णवर्ण और तिक्त रसका दो हजार वर्ष, प्रशस्त विहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक स्थिरषट्क, पुरुषवेद, हास्य और रतिका एक हजार वर्ष, मिथ्यात्वका सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातवेदनीयका पन्द्रहसौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यग्द्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीचगोत्र, तैजसपञ्चक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत और दुर्गन्धका अबाधाकाल दो हजार वर्ष जानना चाहिये ॥

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

अर्थ—तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोटीकोटी सागर है, और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा, उनकी जघन्यस्थिति संख्यातगुणी हीन है। अर्थात् तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जितनी उत्कृष्टस्थिति है, संख्यातगुणी हीन वही स्थिति उनकी जघन्यस्थिति जाननी चाहिये। मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है।

भावार्थ—इस गाथाके तीन चरणोंमें तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विकका उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा अबाधा बतलाई है। यद्यपि अभी जघन्यस्थिति बतलानेका प्रकरण नहीं आया था, तथापि ग्रन्थगौरवके भयसे इन तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति भी बतलादी है। इन तीनों प्रकृतियों-

की दोना ही स्थिति सामान्यसे अन्त कोटीकोटी सागरप्रमाण हैं किन्तु उत्कृष्ट स्थितिसे जघन्यस्थितिका परिमाण सख्यातगुणाहीन अर्थात् सख्यातवें भाग प्रमाण है। तथा उनकी उत्कृष्ट और जघन्य अबाधा भी अन्तमुहूर्तमात्र ही है। किन्तु स्थिति हीकी तरह उत्कृष्ट अबाधासे जघन्य अबाधा भी सख्यातगुणी हीन है। इसप्रकार उक्त तीनों कर्मोंकी स्थिति अन्त कोटीकोटीसागर और अबाधा अन्तमुहूर्त जाननी चाहिये। यहा एक बात बतला देना आवश्यक है, वह यह कि शरीरोंकी स्थिति बतलाते हुए उनके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मकी ता स्थिति बतलादी है, किन्तु बन्धन संघात वगैरहकी स्थिति नहीं बतलाइ है, अत जिस शरीरनामकी जितनी स्थिति है उसके बन्धन नामकर्म और सघात नामकर्म की भी उतनी ही स्थिति समझनी चाहिये। इससे टबे

---

१ कुछ कम कोटीकोटीको अन्त कोटीकोटी कहते हैं। जिससे आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोटीकोटीसागरसे कुछ कम है, तथा अबाधा अन्तर्मुहूर्त है। कर्मकाण्ड गा० १५७ की भाषाटीकामें प० टोडरमल्लजीने आबाधाके आधारपर इस अन्त कोटीकोटीका प्रमाण निकाला है। जिसका भाव यह है कि एक कोडाकोटी सागरकी स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है। सौ वर्षके स्थूलरूपसे दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त होते हैं। जब इतने मुहूर्त आबाधा एक कोडाकोडी सागरकी स्थिति की होती है तो एक मुहूर्त आबाधा कितनी स्थितिकी होती है? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर एक कोडाकोडीमें दसलाख अस्सीहजार मुहूर्तका भाग देनेसे नौ करोड पच्चीस लाख, बानवे हजार पांचसौ बानवे तथा एकके एकसौ आठ भागोंमें से चौसठ भाग लब्ध आता है-(९२५९२५९२$\frac{६४}{१०८}$)। इतने सागरप्रमाणस्थितिकी एक मुहूर्त आबाधा होती है, या यू कहिये कि एक मुहूर्त आबाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की होती है। इसी हिसाबसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आबाधावाले कर्मकी स्थिति जानलेनी चाहिये।

में शरीरके साथ साथ उसके सब भेद प्रभेदोंको भी गिनाकर उन सबकी वही स्थिति बतलाई है, जो मूल शरीर नामकर्मकी स्थिति है।

शंका–यदि तीर्थङ्करनाम कर्मकी जघन्यस्थिति भी अन्त कोटीकोटी-सागर है, तो तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव तिर्यञ्चगतिमें जाये बिना नहीं रह सकेगा, क्योंकि तिर्यञ्चगतिमें भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती। किन्तु तिर्यञ्चगतिमें जानेवाले तीर्थङ्करनाम कर्मकी सत्ता का निषेध किया है अत इतना काल कहा पूर्ण करेगा? तथा, तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होना बतलाया है। अन्त-कोटीकोटी सागरकी स्थितिमें यह भी कैसे बन सकता है?

---

१ पञ्चसंग्रह (गा०८०) और सर्वार्थसिद्धिमें (पृ०३८) पञ्चेन्द्रियपर्यायका काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसपर्यायका काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है। इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ले सकता है और न लगातार त्रस ही हो सकता है। अत अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध करके जीव इतने कालको केवल नारक, मनुष्य और देव पर्यायमें ही जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता। उसे तिर्यञ्चगतिमें जरूर जाना पड़ेगा।

२ 'ज, बज्झई त तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताण ॥ १८० ॥"
आव० नि०।

३ पञ्चसग्रह में तीर्थङ्कर प्रकृतिकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है–
'अतो कोडीकोडी तित्थयराहार तीए सखाओ।
तेत्तीस पलिय सख निकाइयाण तु उक्कोसा ॥२४९॥
अतो कोडीकोडी, ठिइएवि कह न होइ तित्थयरे।
सत किच्चियकाल तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥२५०॥
जमिह निकाइयतित्थ तिरियभवे त निसेहिय सत।
इयरमि नत्थि दोसो उव्वट्टणुवट्टणासज्झे ॥ २५१ ॥"

उत्तर-तिर्यञ्च गतिमें जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी सत्ताका निषेध किया है वह निकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मकी अपेक्षासे किया है। अर्थात् जो तीर्थङ्कर नामकर्म अवश्य अनुभवमें आता है, उसीका तिर्यञ्चगतिमें अभाव बतलाया है। किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका निषेध तिर्यञ्चगतिमें नहीं किया है। इसी प्रकार

अर्थात्-तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की उत्कृष्टस्थिति अन्त कोटिकोटि सागर प्रमाण है। यह स्थिति अनिकाचित तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी स्थिति तो अन्त कोटिकोटि सागरके सख्यातवें भागसे लेकर तीर्थङ्करकी तो कुछ कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विककी पल्यके असख्यातवें भाग है। शङ्का-अन्त कोटिकोटि सागरकी स्थितिवाले तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए भी जीव कबतक तिर्यञ्च न होगा? यदि होगा तो आगमविरोध आता है। उत्तर-जो निकाचित तीर्थङ्कर कर्म है आगम में, तिर्यञ्चगति में उसीकी सत्ताका निषेध किया है। जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस अनिकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मके तिर्यञ्चगति में रहनेपर भी कोई दोष नहीं है।

१ श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

"कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरणामकम्मठिई।
बज्झई य तयणतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठ ॥ ७८ ॥
तट्ठिइमोसक्केउ तइयभवो अहव जीवससारो।
तित्थयरभवाणो वा ओसक्केउ भवे तइए ॥ ७९ ॥
ज बज्झइत्ति भणिय तत्थ निकाइज्ज इत्ति णियमोय।
तदवञ्झफल नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे ॥ ८० ॥"

अर्थात्-तीर्थङ्कर नामकर्मकी स्थिति कोटिकोटिसागर प्रमाण है, और तीर्थङ्करके भवसे पहलेके तीसरे भवमें उसका बन्ध होता है। इसका आशय

तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें जो तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धका कथन है वह भी निकाचित तीर्थङ्करप्रकृतिकी अपेक्षासे ही है। जो तीर्थङ्कर प्रकृति निकाचित नहीं है, अर्थात् जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है वह तीन भवसे भी पहले बंध सकती है।

नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति पहले बतला आये थे, यहाँ मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है॥

इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो॥ ३४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक

यह है कि तीसरे भवमें उद्वर्तन अपवर्तनके द्वारा उस स्थितिको तीन भवोंके योग्य करलिया जाता है। अर्थात् तीन भवोंमें तो कोटिकोटि सागर की स्थिति पूर्ण नहीं होसकती अतः अपवर्तनकरणके द्वारा उस स्थितिका ह्रास करदिया जाता है। शास्त्रकारोंने तीसरे भवमें जो तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका विधान किया है, वह निकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये है, निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य देती है। किन्तु अनिकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये कोई नियम नहीं है, वह तीसरे भवसे पहले भी बंध सकती है।

१ जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लग सकता उसे निकाचित कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के बढ़ाने को उद्वर्तन कहते हैं, और स्थिति और अनुभागके कमकरने को अपवर्तन कहते हैं। करणोंका स्वरूप जानने के लिये देखो-कर्मप्रकृति गा० २ और पञ्चसंग्रह गा० १ (बन्धनकरण) की टीकाएँ तथा कर्मकाण्ड गा० ४३७-४४०।

२ पूर्वका प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ ६३॥" ज्योतिष्क०

पूर्वकोटिप्रमाण बांधते हैं। असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुकर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बांधते हैं। निरुपक्रम आयुवाले, अर्थात् जिनकी आयुका अपवर्तनघात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी अबाधा छह मास होती है। तथा, शेष मनुष्य और तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी आबाधा अपनी अपनी आयुके तीसरे भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ–उक्त गाथाओंके द्वारा कर्मप्रकृतियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बंध केवल पर्याप्तक संज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अतः वह स्थिति पर्याप्तक संज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाई गई है। शेष जीव उस स्थितिमें से कितनी कितनी स्थिति बांधते हैं, इसका निर्देश आगे करेंगे। यहां केवल आयुकर्मकी अपेक्षासे यह बतलाया है कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीव आयुकर्मकी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें से कितना स्थितिबंध करते हैं? तथा उसकी कितनी अबाधा होती है?

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यञ्चगति या मनुष्य-

---

अर्थात्–७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्षका एक पूर्व होता है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि पृ० १२८ में भी पाई जाती है।

१ कर्मकाण्ड गा० ५३८-५४३ में, किस गतिके जीव मरण करके किस किस गतिमें जन्म लेते हैं, इसका खुलासा किया है। तिर्यञ्चोंके सम्बन्ध में लिखा है–

"तेउदुग तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्मे य देवदुगे ॥ ५४० ॥"

अर्थात्–तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेते हैं। शेष एकेन्द्रिय, अपर्याप्त और विकलत्रय जीव तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्म लेते हैं किन्तु तीर्थङ्कर वगैरह नहीं हो सकते। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा घर्मा नामके

गतिमें ही जन्मलेते हैं। वे मरकर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्यामें भी कर्मभूमिजाम ही जन्मलेते हैं, भोगभूमिजोंमें नहीं। अत वे आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक पूर्वकोटि प्रमाण बाध सकते हैं, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि-की होती है। तथा, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरण करके चारोंही गतिमें उत्पन्न हो सकता है, अत वह चारोंमें से किसी भी आयुका बध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्याम कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यञ्चाम भी कर्म-भूमिज तिर्यञ्चही होता है, देवोंमें भवनवासी और व्यन्तर ही होता है, तथा नरकम पहले नरकके तीन पाथडों तकही जन्मलेता है, अत उसके पल्यो पमके असख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्मका बध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवके आयुकर्मके स्थितिबध का निर्देश करके भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे उसकी अबाधा बतलाई है।

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धम एक बात ध्यान रखने योग्य है। अबाधाके सम्बन्धम ऊपर जो एक नियम बतला आये हैं कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्मोंकी ही अबाधा निकालनेके लिये है। आयुकर्मकी अबाधा स्थितिके अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इसीसे कर्मकाण्डमें लिखा है—

"आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥"

अर्थात्—'जैसे अन्यकर्मोंमे स्थितिके प्रतिभागके अनुसार आबाधाका प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्ममें नहीं निकाला जाता।'

इसका कारण यह है कि अन्यकर्मोंका बध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुकर्मका बध अमुक अमुक कालमें ही होता है। गतिके अनुसार

पहले नरक में और देवद्विक अर्थात् भवनवासी और व्यंतरदेवों में उत्पन्न होते हैं।

वे अमुक अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें जब भुज्यमान आयुके दो भाग बीत जाते हैं, तब परभवकी आयुके बन्धका काल उपस्थित होता है। जैसे, यदि किसी मनुष्यकी आयु ९९ वर्षकी है, तो उसमें से ६६ वर्ष बीतनेपर वह मनुष्य परभवकी आयु बाँध सकता है, इससे पहले उसके आयुकर्मका बन्ध नहीं हो सकता। इसीसे मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बध्यमान आयुकर्मका अबाधाकाल एक पूर्वकोटिका तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभागमें परभवकी आयु बंधती है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी अपेक्षासे आयुकर्मकी अबाधाकी व्यवस्था। भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव और नारक अपनी अपनी आयु के छह मास शेष रहनेपर परभवकी आयु बाँधते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने निरुपक्रम आयुवालोंके बध्यमान आयुका अबाधाकाल छहमास बतलाया है।

---

१ आयुबन्ध तथा उसकी अबाधाके सम्बन्धमें मतभेदको दर्शाते हुए पञ्चसङ्ग्रहमें रोचक चर्चा है, जो इस प्रकार है—

'सुरनारयाउयाण अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं ।
इयराण चउसुवि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥ २४४ ॥
वोलीणेसु दोसु भागेसु आउयस्स जो बंधो ।
भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्के वि ॥ २४५ ॥
पलियासंखेज्जंसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा ।
छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहु होइ ॥ २४६ ॥
पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच ते इम भणियं ।
भणिअं पि नियअबाहं आउ बंधंति अमुयंता ॥ २४७ ॥
निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाण भवट्ठिइ तंसो ।
पलियासंखेज्जंसं जुगधम्मीण वयंतन्ने ॥ २४८ ॥"

अर्थ-'देवायु और नरकायु की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर है। तिर्यञ्चायु

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें जो दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य है वह यह है कि सातकर्मोंकी ऊपर जो स्थिति बतलाई गई है, उसमें उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे, मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोटिकोटि सागरमें ही सम्मिलित हैं। अतः यदि मिथ्यात्वकी अबाधारहित स्थिति, जिसे हम पहले 'अनुभवयोग्या' नामसे कह आये हैं, जानना हो तो सत्तर कोटिकोटि सागर में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्मकी स्थितिमें

और मनुष्यायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है। तथा चारों आयुओंकी एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

शङ्का–आयुके दो भाग बीतजाने पर जो आयुका बन्ध कहा है वह असंभव होनेसे चारों ही गतियों में नहीं घटता है। क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यञ्च कुछ अधिक पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर परभवकी आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। तथा देव, और नारक भी अपनी आयु के छह माहसे अधिक शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु छहमास आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। किन्तु उनकी आयुका त्रिभाग बहुत होता है। तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयुका त्रिभाग एक पल्य और देव तथा नारकोंकी आयुका त्रिभाग ग्यारह सागर होता है।

उत्तर–जिन तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयु एक पूर्व कोटि होती है उनकी अपेक्षासे ही एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है। तथा यह अबाधा अनुभूयमान भवसम्बन्धी आयुमें ही जाननी चाहिये परभव सम्बन्धी आयुमें नहीं क्योंकि परभवसम्बन्धी आयुकी दलरचना प्रथम समय में ही होजाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। अतः एक पूर्व कोटीकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंकी परभवकी आयुकी उत्कृष्ट अबाधा

यह बात नहीं है। आयुकर्मकी तेतीस सागर, तीन पल्य, पल्यका असख्या-तवा भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, तथा आगे भी बतलायेंगे, वह शुद्ध स्थिति है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। इस अन्तरका कारण

पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा छह मास होती है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवोंके अपनी अपनी आयुके त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा पल्यके असख्या-तवें भाग प्रमाण कहते हैं।"

चन्द्रसूरि रचित सग्रहणीसूत्रमें इसी बातको और भी स्पष्ट करके लिखा है–

"बधति देवनारय असखनरतिरि छमाससेसाऊ।
परभवियाऊ सेसा निरुवक्कमतिभागसेसाऊ ॥ ३०१ ॥
सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
सत्तावीस इमेवा अतमुहुत्तंतिमेवावि ॥ ३०२ ॥"

अर्थात्–'देव, नारक और असख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच छह मासकी आयु बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं। शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयुका त्रिभाग बाकी रहने पर परभवकी आयु बाधते हैं। और सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयुके त्रिभागमें अथवा नौवें भागमें, अथवा सत्ताईसवें भागमें परभवकी आयु बांधते हैं। यदि इन त्रिभागोंमें भी आयुबध नहीं करपाते तो अतिम अन्तमुहूर्तमें परभवकी आयु बांधते हैं।'

गो० कर्मकाण्डमें आयुबन्धके सम्बन्धमें साधारण तौर पर तो यही विचार प्रकट किये हैं। किन्तु देव, नारक और भोगभूमिजोंकी छह मास प्रमाण आबाधा को लेकर उसमें उक्त निरूपणसे मौलिक मतभेद है। कर्मकाण्ड के मतानुसार छह मासमें आयु बन्ध नहीं होता, किन्तु उसके

यह है कि अन्यकर्मोंकी अबाधा स्थितिके अनुपातपर अवलम्बित है अतः सुनिश्चित है। किन्तु आयुकर्मकी अबाधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके त्रिभागमें भी आयुकर्मका बंध अवश्यंभावी नहीं है, क्योंकि त्रिभागका भी त्रिभाग करते करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुबंध नहीं होता तो मरणसे अन्तमुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्मकी स्थितिमें उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अबाधाका प्रमाण जानना चाहिये।

त्रिभागमें आयुबंध होता है। और उस त्रिभागमें भी यदि आयु न बंधे तो छह मासके नौवें भागमें आयुबंध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंचोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके त्रिभागमें परभव की आयुका बन्ध होता है, वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके त्रिभागमें आयुबंध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभूमियोंको लेकर मतभेद है। किन्हींका मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभागमें परभवकी आयुका बंध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसके सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागोंमें आयुबन्ध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तमुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकाके असंख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बन्धन करणमें गाथा ७० से स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्धको लेकर

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति और अबाधाको बतला कर अब उनकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

लहुठिइबंधो संजलणलोह-पणविग्घ-नाण-दंसेसु ।
भिन्नमुहुत्त ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥

अर्थ—संज्वलन लोभ, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार

तीनोंही ग्रन्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। केवल एक बात उल्लेखनीय है वह यह कि कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिमें वर्णादिचतुष्ककी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और कर्मग्रन्थमें उसके अवान्तर भेदोंको लेकर दस कोटी कोटी सागरसे लेकर बीस कोटिकोटि सागर तककी स्थिति बतलाई है। इस अन्तरका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञटीकामें ग्रन्थकारने स्वय कर दिया है। वे लिखते हैं—

"यद्यपि वर्ण गन्ध रस स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेद बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटी कोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदाना विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थिति पञ्चसंग्रहेऽभिहिता, अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता। बन्ध तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषित गणनीयम् ॥ २९ ॥'

अर्थात्—यद्यपि बन्ध अवस्थामें वर्णादि चार ही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये जाते । कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें उनके भेदोंको न लेकर, वर्णादि चतुष्ककी स्थिति बीस कोटिकोटी सागर प्रमाण बतलाई है। तथापि पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके बीस भेदोंकी भी पृथक् पृथक् स्थिति बतलाई है अत हमने भी वैसाही कथन किया है। बन्धकी अपेक्षासे तो वर्णादि चार ही गिनने चाहिये, उनके भेद नहीं गिनने चाहिये।' उत्कृष्ट अबाधाके निरूपणमें भी कोई अन्तर नहीं है।

पञ्चसंग्रह में गा० २३८ से स्थितिबन्धका निरूपण प्रारम्भ होता है।

यह है कि अन्यकर्मोंकी अबाधा स्थितिके अनुसार अनिश्चित है अत सुनिश्चित है। किन्तु आयुकर्मकी अबाधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके त्रिभागमें भी आयुकर्मका बंध अवश्यंभावी नहीं है, क्योंकि त्रिभागका भी त्रिभाग करते करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुबंध नहीं होता तो मरणसे अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्मकी स्थितिमें उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अबाधाका प्रमाण जानना चाहिये।

त्रिभागमें आयुबंध होता है। और उस त्रिभागमें भी यदि आयु न बंधे तो छह मासके नौवें भागमें आयुबंध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके त्रिभागमें परभव की आयुका बंध होता है वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके त्रिभागमें आयुबंध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभूमियोंको लेकर मतभेद है। किन्हींका मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभागमें परभवकी आयुका बंध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसके सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागोंमें आयुबंध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकाके असंख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बंधन करणमें गाथा ७० से स्थितिबंधका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबंधको लेकर

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका यह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चार आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकार ने उनकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{3}{7}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{3}{14}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{15}{70}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{3}{14}$ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिककी $\frac{9}{35}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{18}{70}$ आता है।

दर्शनावरणका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यशःकीर्ति और उच्चगोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठमुहूर्त प्रमाण होता है। और सातवेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

भावार्थ—इस गाथासे जघन्य स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। इसमें अठारह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके प्रमाणका निर्देश किया है। यह स्थितिबन्ध अपने अपने बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अर्थात् जब इन प्रकृतियोंके बन्धका अन्तकाल आता है, तभी उस जघन्य स्थितिबन्ध होता है। अतः संज्वलन लोभका जघन्य स्थितिबन्ध नवें गुणस्थानमें और पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति और उच्च गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त प्रमाण जो जघन्यस्थिति बतलाई है, वह सकषाय बन्धककी अपेक्षासे बतलाई है। अकषाय बन्धककी अपेक्षासे तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें उसकी जघन्यस्थिति दो समय मात्र ही होती है, यह पहले कह आये हैं॥

दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं ॥ ३६ ॥

अर्थ—संज्वलन क्रोधकी दो मास, संज्वलन मानकी एक मास, संज्वलन मायाकी एक पक्ष और पुरुष वेदकी आठ वर्ष जघन्यस्थिति है। तथा, शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देनेपर जो लब्ध आता है वही उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिये।

१ तुलना करो—
"दो मास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं ॥ २५५ ॥" पञ्चसं०
२—साओ। ३—द्धं।

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका कठोक्त स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका वह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छिति-के कालमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चारों आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृ-तियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेंद्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकार ने सबकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{3}{7}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{3}{14}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{15}{70}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{3}{14}$ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिककी $\frac{9}{35}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{18}{70}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको दो से काटने पर $\frac{9}{35}$ शेष रहता है), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, प्रशस्त विहायोगति, वज्र-ऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, सुगन्ध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्णस्पर्शकी $\frac{1}{7}$ सागर, शेष शुभ और अशुभ वर्णादि-

---

१ बन्ध अवस्थामें वर्णादि चारही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये

"वग्गुक्कोसठिइण मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध ।
सेसाण तु जहन्ना पल्लासखिज्जभागूणा ॥ ७९ ॥"

अर्थात्-अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थिति म मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देनेपर जो लब्ध आता है, उसमें पल्यके असख्यातवें भागको कमकर देनेपर शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आती है। इसके अनुसार दर्शनावरण और वदनीयके वर्गकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेपर लब्ध ३/७ सागर आता है, उसम पल्यके असख्यातव भागको कमकर देनेपर निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति आती है। दर्शनमोहनीय वर्गकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरम मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्ध एक सागरमें से पल्यका असख्यातवाँ भाग कम करनेपर मिथ्यात्वकी जघन्यस्थिति आती है। कषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति चालीस कोटीकोटी सागरम मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध ४/७ सागरमें स पल्यका असख्यातवाँ भाग कम करनेपर प्रारम्भके बारह कषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नोकषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरम मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध २/७ सागरमें से पल्यका असख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर पुरुषवेदके सिवाय शेष आठ नोकषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरम मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्धम से पल्यका असख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और यश कीर्तिको छोड़कर नामकर्मकी शेष सत्तावन प्रकृतियोंकी और नीचगोत्रकी जघन्यस्थिति आती है।

सामान्यसे सब प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाकर, अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंके योग्य प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासखसहीण लहुनधो ।
कमसो पणवीसाए पन्ना-सय-सहस्ससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसखभागूणो ।

अर्थ—इससे पहलेका ३६ वीं गाथामें, अपने अपने वर्गकी उत्कृष्ट-स्थितिमे मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर जो लब्ध निकाला है, वही एकेन्द्रिय जीवोंके उन उन प्रकृतियाके उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण होता है। उस उत्कृष्टस्थितिबन्धमे पल्यके असंख्यातवे भागको कमकर देनेपर एके-

---

१ जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पूर्वोक्त बतलाई है, उनके सम्बन्धमें तो कर्मप्रकृति, कर्मकाण्ड और कर्मग्रन्थमें कोई अन्तर नही है। शेष पिचासी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें जो कुछ वक्तव्य है वह इस प्रकार है—कर्मकाण्डमें उनके बारेमें केवल इतना लिख दिया है—

'सेसाण पज्जत्तो बादर एइंदियो विसुद्धो य।
बधदि सव्वजहण्ण सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ १४३ ॥''

अर्थात्-शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितियोंको बादर पर्याप्तक विशुद्ध परिणामवाला एकेन्द्रिय जीव अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिके प्रतिभागमें बांधता है।

और आगे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उक्त प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्टस्थिति बतलानेके लिये अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर एकेन्द्रियके योग्य उत्कृष्टस्थिति, और उसमें पल्यका असख्यातवां भाग न्यून करके जघन्यस्थिति बतलाई है। उक्तगाथा १४३ में जिस प्रतिभागका उल्लेख किया है उस प्रतिभागको आगे की गाथामें उक्त प्रकारसे स्पष्ट करदिया है। अत कर्मकाण्डमें जो शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध अलगसे नहीं बतलाया है, उसका कारण यही है कि उनका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीव ही करता है और

न्द्रिय जीवके जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है। एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे पचीसगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध दोइन्द्रिय जीवके होता है, पचासगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है, सौगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके होता है, एक हजारगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके होता है। अपने अपने उत्कृष्टस्थितिबन्धमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर अपने अपने जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है।

भावार्थ—इससे पूर्वकी गाथाओंमें उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्यसे बतलाई है। किन्तु इस गाथामें एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रियको अपेक्षासे उत्तर

उसके बंधने योग्य प्रकृतियोंकी स्थिति आगे बतलाई गई है। कर्मप्रकृतिमें शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हुए जो गाथा दी है, वह ३६ वीं गाथाके भावार्थमें लिख आये हैं। उसके आगे एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे प्रकृतियोंकी स्थितिका परिमाण बतलाते हुए लिखा है—

एगेंदियवइदरो सव्वासि ऊणसजुओ जेट्ठो।

अर्थात्—अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर उसमेंसे पल्यके असंख्यातवें भागको कम करनेसे जो अपनी अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रियके योग्य जघन्य स्थितिका प्रमाण जानना चाहिये। कम किये हुए पल्यके असंख्यातवें भागको उस जघन्य स्थितिमें जोड़ देनेपर उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण होता है।

कर्मग्रन्थके रचयिताने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हुए गाथा ३६ के उत्तरार्द्धका पहला व्याख्यान पञ्चसंग्रहके अभिप्रायानुसार किया है। और दूसरा व्याख्यान कर्मप्रकृतिके अनुसार किया है। दोनों व्याख्यानोंमें एक मौलिक अन्तर तो स्पष्ट ही है कि पञ्चसंग्रहमें अपनी अपनी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग

प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति बतलानेका उपक्रम किया है। गाथा नं० ३६ में शेष ८५ प्रकृतियोंके जघन्यस्थितिबंधको बतलानेके लिये, उन प्रकृतियोंके वर्गोंकी उत्कृष्टस्थितियोंमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देनेका जो विधान किया है, एकेंद्रिय जीवके उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति-

---

देकर जघन्यस्थिति निकाली है, जैसा कि कर्मकाण्डमें भी पाया जाता है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है। अतः जहाँतक प्रकृतियोंकी स्थितिमें भाग देनेका सम्बन्ध है वहाँतक तो कर्मकाण्ड पञ्चसङ्ग्रहके मतसे सहमत है। किन्तु आगे जाकर वह कर्मप्रकृतिसे सहमत हो जाता है। क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहके मतानुसार प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग देने पर जो लब्ध आता है वह तो एकेन्द्रियकी अपेक्षासे जघन्यस्थिति होती है और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्टस्थिति होती है। किन्तु कर्मप्रकृति और कर्मकाण्डके मतानुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही उत्कृष्टस्थिति होती है और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर जघन्यस्थिति होती है। अतः कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहके मतमें बड़ा अन्तर है।

कर्मप्रकृतिका 'वग्गुक्कोसठिईण' आदि गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने भी पञ्चसङ्ग्रहके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—"पञ्चसङ्ग्रहे तु वर्गोत्कृष्टस्थितिविभजनीयतया नाभिप्रेता किन्तु 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं' ॥ ४८ ॥ इति ग्रन्थेन स्वस्वोत्कृष्टस्थितिर्मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थितिपरिमाणम्।" अर्थात् पञ्चसङ्ग्रहमें तो अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग नहीं दिया जाता। किन्तु अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देने पर जो लब्ध आता है वही जघन्यस्थितिका परिमाण होता है।

बन्धका प्रमाण निकालनेके लिये भी यही विधान काममें लाया जाता है। उक्त विधानके अनुसार विवक्षित प्रकृतिकी पहले बतलाई गई उत्कृष्टस्थिति-में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देनेपर जितना लब्ध आता है एकेन्द्रिय जीवके उस प्रकृतिका उतना ही उत्कृष्टस्थितिबन्ध होता है। जैसे, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अन्तराय, इन इक्कीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंके वर्गोंकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर है। उसमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिसे भाग देनेपर $\frac{3}{7}$ सागर लब्ध आता है। इसी क्रमसे अन्य प्रकृतियोंकी स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्वकी एक सागर, सोलह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, नौ नोकषायोंकी $\frac{2}{7}$ सागर, वैक्रिय-

---

१ एकेन्द्रियादिक जीवोंके वैक्रियषट्कका बन्ध नहीं होता अतः उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है। किन्तु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियके उसका बन्ध होता है, अतः उसकी अपेक्षासे वैक्रियषट्ककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति पञ्चसंग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाई है–

"वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसिं।
पलियासंखंसूणं ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥ २५६ ॥"

अर्थात्–"उक्तरीतिके अनुसार वैक्रियषट्ककी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोटीकोटी सागरका भाग देने से जो $\frac{2}{7}$ स्थिति आती है उसे एक हजारसे गुणा करनेपर असंज्ञी जीवके वैक्रियषट्ककी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आता है। उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेसे जघन्यस्थितिका प्रमाण आता है।' यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले नरकद्विक और वैक्रियद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध बीस कोटीकोटी सागर और देवद्विकका दस कोटीकोटी सागर बतलाया है। तथापि यहाँ उसकी जघन्यस्थिति बतलानेके लिये बीस कोटीकोटी सागर

षट्क, आहारकद्विक और तीर्थङ्करको छोड़कर, एकेन्द्रियके बंधने योग्य नाम-कर्मकी शेष अट्ठावन प्रकृतियोंकी और दोनों गोत्रोंकी ⅔ सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति आती है। इस उत्कृष्टस्थिति बन्धमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर एकेन्द्रिय जीवके जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिकी ⅔ सागर वगैरह जो उत्कृष्टस्थिति निकाली है, उसमें से पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर वही उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति होजाती है।

गाथाके पूर्वार्धद्वारा एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका परिमाण बतलाकर, उत्तरार्धद्वारा द्वीन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उसका परिमाण बतलाया है। जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवके ⅔ सागर वगैरह जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसे पचीससे गुणा करनेपर द्वीन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवके एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे पचीस गुना अधिक होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति एक सागर-प्रमाण बंधती है। तो द्वीन्द्रियजीवके उसकी उत्कृष्टस्थिति पचीस सागर प्रमाण बंधती है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उससे पचास गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्व-की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर बंधती है तो त्रीन्द्रियके पचास सागर प्रमाण बंधता है। ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे सौगुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

प्रमाण ही लिया गया है जैसा कि उसकी टीकामें (पृ० २२८ पृ०) आचार्य मलयगिरिजीने लिखा है—"देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटी प्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय कोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते।"

चतुरिन्द्रिय जीव करता है, अतः मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके सौ सागर प्रमाण होता है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझ लेना चाहिये। तथा एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे एक हजार गुणा स्थितिबन्ध असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके होता है। इसके अनुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके एक हजार सागर प्रमाण बधती है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये।

---

१ कर्मकाण्डमें एकेन्द्रियादिक जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जिस शैलीसे बतलाया है स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उसे यहा उद्धृत करते हैं–

'एय पणकदी पण्ण सयं सहस्सं च मिच्छवरबन्धो।

इगविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥ १४४ ॥"

अर्थात्–एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके मिथ्यात्वका उत्कृष्टस्थितिबन्ध क्रमशः एक सागर पचीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण होता है। तथा उसका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियके पल्यके असंख्यातवें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकलेन्द्रिय जीवोंके पल्यके संख्यातवें भाग हीन अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण होता है। आगे लिखते हैं–

"जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।

इदि संपाते सेसाणं इगविगलेसु उभयठिदी ॥ १४५ ॥"

अर्थात्–यदि सत्तर कोटीकोटी सागरकी स्थितिवाला मिथ्यात्वकर्म एकेन्द्रिय जीवके एक सागर द्वीन्द्रियके पचीस सागर, त्रीन्द्रियके पचास सागर, चतुरिन्द्रियके सौ सागर और असंज्ञिपंचेन्द्रियके एक हजार सागर प्रमाण बधता है तो तीस कोटीकोटी सागर आदिकी स्थितिवाले अन्य कर्म उनके कितनी स्थितिको लेकर बधेंगे ऐसा त्रैराशिक करने पर एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके शेष प्रकृतियोंकी दोनों स्थितियां मालूम हो जाती हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपचेन्द्रियके उक्त अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें पल्यका संख्यातवा भाग कम करदेनेपर अपना अपना जघन्य स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञि पचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जानना चाहिये।

अब बाकी बचे आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभव ॥ ३८ ॥

अर्थ—देवायु और नरकायुकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है।

भावार्थ—ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आगे बतलाने का निर्देश कर आये थे, उनमेंसे चारों आयुकी जघन्यस्थिति यहा बतलाई है। आगममें मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण बतलाई है, और यहा क्षुद्रभव प्रमाण लिखी है। इसका कारण यह है कि अन्तमुहूर्तके बहुतसे भेद हैं। अत यह बतलानेके लिये कि अन्तर्मुहूर्त क्षुद्रभवप्रमाण लेना चाहिये, यहा अन्तमुहूर्त न लिखकर उसके ठीक ठीक परिमाणका सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभवका निरूपण आगे ग्रन्थकार स्वय करेंगे।

जघन्य स्थितिका कथन करके, अब जघन्य अबाधाको बतलाते हैं—

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसम जिणमतमुहू बिंति आहार ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धमें तथा आयुकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें भी जघन्य अबाधाका प्रमाण अन्तमुहूर्त है। किन्हीं आचार्यों के मतसे तीर्थङ्करनामकी जघन्यस्थिति देवायुके समान अर्थात् दस हजार वर्ष है और आहारकद्विक की अन्तमुहूर्त प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथाके पूर्वार्द्धमें सभी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य

अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है। जघन्य स्थितिबन्धमें जो अबाधा काल होता है उसे जघन्य अबाधा कहते हैं और उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें जो अबाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं। किन्तु यह परिमाण उन सातकर्मों तक ही सीमित है, जिनकी अबाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार होती है। आयुकर्मकी तो उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योंकि उसकी अबाधाकाल स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नहीं होता, जैसा कि पहले लिख आये हैं। अतः आयुकर्मकी अबाधामें चार विकल्प होते हैं—१—उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अबाधा, २—उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें जघन्य अबाधा, ३—जघन्य स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अबाधा और ४—जघन्य स्थितिबन्धमें जघन्य अबाधा। इन विकल्पोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी एक पूर्वकोटिकी आयुमें तीसरा भाग शेष रहनेपर तेतीस सागरकी आयु बांधता है तब उत्कृष्टस्थिति बन्धमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर तैंतीस सागरकी स्थिति बांधता है तो उत्कृष्टस्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। तथा, जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटिका तीसरा भाग शेष रहते हुए परभव की जघन्यस्थिति बांधता है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहनेपर परभवकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है तो जघन्य स्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। अतः आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।

इस प्रकार अबाधाका कथन करके ग्रन्थकारने गाथाके उत्तरार्द्धमें तीर्थङ्कर और आहारकद्विककी जघन्यस्थितिके सम्बन्धमें किन्हीं आचार्योंके मतका उल्लेख किया है, जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानते हैं। इन

तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ग्रन्थकार पहले अन्त कोटीकोटीसागर बतला आये हैं। उन्हींके सम्बन्धमें यह मतान्तर जानना चाहिये।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभवके बराबर बतलाई है। अत दो गाथाओंसे क्षुद्रभवका निरूपण करते हैं—

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तमि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

अर्थ—एक श्वासोच्छ्वासमें कुछ अधिक सतरह क्षुद्र या क्षुल्लक भव होते हैं। एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। तथा, एक मुहूर्तमें ६५५३६ क्षुद्रभव होते हैं और एक क्षुद्रभवमें २५६ आवली होती हैं।

---

१ यह मत पञ्चसङ्ग्रहकारका जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारककी जघन्यस्थिति अन्त मुहूर्त बतलाई है। यथा—

"सुरनारयाउयाण दसवाससहस्स लघु सतित्थाण ॥ २५३ ॥"

अर्थात्—तीर्थङ्कर नाम सहित देवायु नरकायुकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। तथा—

'साए बारस हारगविग्घावरणाण किंचूण ॥ २५४ ॥'

'सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी कुछ कम मुहूर्तप्रमाण जघन्यस्थिति है।'

२ जीवकाण्डमें एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ क्षुद्र भव कहे हैं। यथा—

"तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२३ ॥"

अर्थात्—लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तमुहूर्तमें ६६३३६ बार मरण

भावार्थ—गाथा ३८में मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई थी, अतः इन गाथाओंके द्वारा क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाया है। निगोदिया जीवके भवको क्षुद्रभव कहते हैं, क्योंकि उसकी स्थिति सब भवोंकी अपेक्षासे अति अल्प होती है और वह भव मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायमें ही होता है। अतः मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई है। क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निम्न प्रकार है—

जैन कालगणनाके अनुसार, असंख्यात समयकी एक आवली होती

करता है, अतः एक अन्तमुहूर्तमें उतनेही अर्थात् ६६३३६ ही क्षुद्रभव होते हैं। तथा—

"सीदी सट्ठी ताल वियले चउवीस होंति पचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सय च बत्तीसमेयक्खे ॥१२४॥"

'उन ६६३३६ भवोंमेंसे, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके साठ, चतुरिन्द्रियके ४०, पचेन्द्रियके २४ और एकेन्द्रियके ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं।'

इस प्रकार दिगम्बरोंके अनुसार एक श्वासमें १८ क्षुद्रभव होते हैं।

१ ज्योतिष्करण्डकमें लिखा है—

'कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो त तु जाण समय तु।
समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥ ८ ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भण्णए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु ॥ ९ ॥
अट्ठत्तीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।"

अर्थात्—कालके अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अशको समय कहते हैं। असख्यात समयका एक उच्छ्वास निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं। सात प्राणका एक स्तोक, सात स्तोकका एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली और 'बे नालिया मुहुत्तो'—दो नालीका एक मुहूर्त होता है।

है। सख्यात आवलीका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। अर्थात् एक रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुषके एक बार श्वास लेने और त्यागनेके कालको एक उच्छ्वास-निश्वासकाल या श्वासोच्छ्वासकाल कहते हैं । सात श्वासोच्छ्वासकालका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अडतीस लवकी एक नाली या घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है । अत एक मुहूर्तमे श्वासोच्छ्वासोंकी सख्या मालूम करनेके लिये १ मु० × २ घ० × ३८$\frac{१}{२}$ लव × ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करनेपर ३७७३ सख्या आती है। तथा, एक मुहूर्तमे एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अत ६५५३६म ३७७३ से भाग देनेपर १७$\frac{१३९५}{३७७३}$ लब्ध आता है। अत एक श्वासोच्छ्वासकालमें सतरहसे कुछ अधिक क्षुद्रभवोंका प्रमाण जानना चाहिये । अर्थात् एक क्षुद्रभवका काल एक उच्छ्वास निश्वासकालके कुछ अधिक सतरहवें भाग प्रमाण होता है। उतने ही समयमें दो सौ छप्पन आवली होती हैं।

यदि आधुनिक कालगणनाके अनुसार क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निकाला जावे तो वह इस प्रकार होगा। एक मुहूर्तमें अडतालीस मिनिट होते हैं, अर्थात् एक मुहूर्त ४८ मिनिटके बराबर होता है । और एक मुहूर्तमे ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अत ३७७३में ४८से भाग देनेपर एक मिनिटमें साढे अठत्तरके लगभग श्वासोच्छ्वास आते हैं । अर्थात् एक श्वासोच्छ्वासका काल एक सैकिण्डसे भी कम होता है, उतने कालमें निगोदिया जीव सतरहसे भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है । इससे क्षुद्रभवकी क्षुद्रताका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है।

वैक्रियषट्कके सिवाय शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका और सभी प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब उनके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करता है। प्रमत्तसंयत मुनि आहारकद्विक और देवायुका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करता है। और मिथ्यादृष्टि जीव शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है।

भावार्थ—उत्कृष्टस्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए, इस गाथामें तीर्थङ्करप्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका स्वामी (कर्ता) अविरतसम्यग्दृष्टिको बतलाया है। किन्तु उसके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि जो अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वग्रहण करनेसे पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें नरकायुका बन्ध कर लेता है, और बादको क्षायोपशमिक सम्यक्त्वग्रहण करके तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करता है, वह मनुष्य जब नरकमें जानेका समय आता है तो सम्यक्त्वको वमन करके मिथ्यात्वको अङ्गीकार करता है। जिस समयमें वह सम्यक्त्वको त्यागकर मिथ्यात्वको अङ्गीकार

---

१ प्रकरणरत्नाकरके चौथे भागमें 'य पमत्तो'के स्थानमें 'अपमत्तो' पाठ मुद्रित है और टबे में उसका अर्थ प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्त किया है। टबेमें लिखा है- 'आहारकशरीर तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग, ए बे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रमत्तगुणठाणाने सन्मुख थयलो एवो अप्रमत्त यति ते अप्रमत्त गुणठाणाने चरमबन्धे बांधे। एना बधक माहे एहिज अतिसंक्लिष्ट छे। तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो। पण एटलु विशेष जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबन्ध आरंभीने अप्रमत्ते थइलो साधु बांधे।'

कर्मप्रकृति के स्थितिबन्धाधिकारमें गा० १०२ का व्याख्यान करते हुए उपाध्याय यशोविजयजीने भी आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्त

करता है, उससे पहले समयमें उस अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट सक्लेशसे ही बधती है, और वह उत्कृष्ट सक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमेंसे अविरतसम्यग्दृष्टिके ही उस अवस्थामें होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया है। अत उसका ही ग्रहण किया है। तथा, तिर्यञ्च गतिमें तो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध ही नहीं होता। देवगति और नरकगतिमें उसका बन्ध तो होता है, किन्तु वहाँ तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्धक चौथे गुणस्थानसे च्युत होकर मिथ्यात्वके अभिमुख नहीं होता। और ऐसा हुए विना तीर्थङ्कर प्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका कारण उत्कृष्ट सक्लेश नहीं हो सकता। अत मनुष्यका ग्रहण किया है। तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले जो मनुष्य नरकायुका बन्ध नहीं करता, वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका

भावके अभिमुख अप्रमत्त मुनिके और देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयतिके बतलाया है। पञ्चसग्रह (प्र० भा०) की टीकाओंमें भी (पृ० २३६) यही बतलाया है। कर्मकाण्डमें भी लिखा है–

"देवाउग पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो दु।
तित्थयर च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥ १३६ ॥"

अर्थात्–देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयति करता है और आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्तयति करता है। इसप्रकार उक्त सभी उल्लेखोंके आधारपर आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध सातवें गुणस्थानमें उस समय होता है जब जीव छठें गुणस्थानके अभिमुख होता है। किन्तु कर्मग्रन्थके रचयिताके अनुसार सातवेंसे छठेंमें आने पर होता है। उन्होंने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें यही अर्थ किया है। इसलिये हमने 'अपमत्तो' पाठ न रखकर 'य पमत्तो' रक्खा है। भावनगरसे प्रकाशित नवीन सस्करणमें भी यही पाठ

बन्ध करनेके बाद नरकमें उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसे मनुष्यका ग्रहण किया है जो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध करनेसे पहले नरककी आयु बांध लेता है। तथा, राजा श्रेणिककी तरह कोई कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व दशामें ही मरकर नरकमें जा सकते हैं, किन्तु विशुद्ध परिणाम होनेके कारण वे जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं कर सकते, और उसका ही यहाँ प्रकरण है। अतः उनका ग्रहण न करके, मिथ्यात्वके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। सारांश यह है कि चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध हो सकता है। किन्तु उत्कृष्टस्थिति बंधके लिये उत्कृष्ट संक्लेशकी आवश्यकता है, और तीर्थङ्कर प्रकृतिके बंधक मनुष्यके उसी दशामें उत्कृष्ट संक्लेश हो सकता है, जब वह मिथ्यात्वके अभिमुख हो। और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्वके अभिमुख तभी होता है जब तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध करनेसे पहले उसने नरकायुका बंध कर लिया हो। अतः नरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि

१ पञ्चसङ्ग्रह प्र० भा० पृ० २३६ में मलयगिरि टीकामें लिखा है—"तथा चोक्तं शतकचूर्णौ तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठोत्ति काउ। जो सम्मत्तेण खाइगेण नरगं वच्चइ सो तओ विसुद्धपरोत्ति काउ तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति।" अर्थात् शतकचूर्णि में कहा है कि जो मनुष्य असंयत वेदक सम्यग्दृष्टि पहले नरकायुका बन्ध करचुकने के कारण नरक के अभिमुख होता हुआ अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त करेगा, वह अन्तिम स्थितिबन्धमें वर्तमान रहते हुए तीर्थङ्कर नामकी उत्कृष्टस्थितिको बांधता है। तीर्थङ्करके बंधकोंमें उसीके अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं। जो क्षायिकसम्यक्त्वसे नरक जाता है, वह उससे विशुद्धतर है।, अतः उसका नहीं किया है।

मनुष्य जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है, उसी समय उसके तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

तथा, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत हुआ प्रमत्त-संयत मुनि करता है। क्योंकि इन प्रकृतियोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेशका होना आवश्यक है। और उनके बन्धक प्रमत्त मुनिके उसी समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है, जब वह अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थानमें आता है। अतः उसके ही उन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जानना चाहिये।[1]

तथा, देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थानके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होता है। क्योंकि यह स्थिति शुभ है, अतः इसका बन्ध विशुद्धदशामें ही होता है। और यह विशुद्ध दशा अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होती है।

शङ्का—यदि देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्ध भावोंसे होता है तो अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाना चाहिये,

---

१ आहारकद्विकके बन्धकके बारेमें कर्मग्रन्थकी टीकामें लिखा है—'तथा 'आहारकद्विक' आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं 'पमत्तु'त्ति प्रमत्त संयतो अप्रमत्तभावाभिवर्तमान इति विशेषो दृश्यः, उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति। अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावाभिवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यते इत्यर्थं विशिष्यते।' इसका अर्थ ऊपर दिया ही गया है।

२ 'सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।

इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥ २७१ ॥' पञ्चस०

अर्थात्—'देवायु, नरायु और तिर्यगायुको छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति अशुभ होती है, और उसका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है। तथा विशुद्धपरिणामोंसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है।'

क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनिसे, भले ही वह अप्रमत्त भावके अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनिके भाव विशुद्ध होते हैं।

समाधान—अप्रमत्त गुणस्थानमें देवायुके बंधका आरम्भ नहीं होता, किंतु प्रमत्त गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ देवायुका बंध कभी कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें पूर्ण होता है। द्वितीय कर्मग्रंथमें छठे और सातवें गुणस्थानमें बंधप्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए जो कुछ लिखा है उससे यही आशय निकलता है कि जो प्रमत्त मुनि देवायुके बंधका प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो उसी गुणस्थानमें देवायुके बंधका प्रारम्भ करके उसीमें उसकी समाप्ति कर लेते हैं और दूसरे छठे गुणस्थानमें उसका बंध प्रारम्भ करके सातवेंमें उसकी पूर्ति करते हैं। अतः अप्रमत्त अवस्थामें देवायुके बंधकी समाप्ति तो हो सकती है किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसीलिये देवायुके उत्कृष्ट स्थितिबंधका

१ 'तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्साय।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥
गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥'

अर्थात्– प्रमत्त गुणस्थानमें त्रेसठ प्रकृतियोंका बंध होता है और छह प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। यदि देवायुके बंधकी पूर्ति भी यहीं हुई तो सातकी व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें, यदि देवायुका बंध यहाँ चला आया तो उनसठ प्रकृतियोंका बंध होता है, अन्यथा अट्ठावनका बंध होता है क्योंकि यहाँ आहारकद्विकका भी बंध होता है।'

सर्वार्थसिद्धिमें भी देवायुके बंधका आरम्भ मुख्यतया छठवें गुणस्थानमें ही बतलाया है। यथा–'देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुः प्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः।' पृ० २३८।

स्वामी अप्रमत्तको न बतलाकर अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्त संयमीको बतलाया है।

आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और देवायुके सिवाय शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है, क्योंकि पहले लिख आये हैं कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रायः संक्लेशसे ही होता है, और सब बन्धकोंमें मिथ्यादृष्टिके ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन ११६ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिसे होता है, अतः इन दोनोंका बन्धक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

शंका—मनुष्यायुका बन्ध चौथे गुणस्थानतक होता है और तिर्यञ्चायुका बन्ध दूसरे गुणस्थानतक होता है। अतः मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये और तिर्यञ्चायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादन सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये। क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, और तिर्यगायु तथा मनुष्यायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी ही आवश्यकता है।

समाधान—यह सत्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके परिणाम मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्योपम है और यह उत्कृष्टस्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके ही होती है। परन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायुका बन्ध करके भी कर्मभूमिमें ही जन्म लेते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्च, यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायुका ही बन्ध करते हैं। अतः चतुर्थ गुणस्थानकी विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायुके बन्धका कारण नहीं हो सकती। तथा, दूसरा गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्वका वमन करके

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्वगुणसे विमुख सासादनसम्यग्दृष्टिके अधिक विशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सासादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता।

संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सामान्यसे बतलाया है। अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव किन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं—

विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

अर्थ—विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक और नारकद्विकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होता है। तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, और आतपनामका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्योंके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके बतलाया है। पन्द्रह प्रकृतियोंमेंसे तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध देवगति और नरकगतिमें तो जन्मसे ही नहीं होता। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, जो भोगभूमिजोंमें ही होती है। किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं। अतः इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्चके ही बतलाया है। इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देवोंके बतलाया है, क्योंकि ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव तो एकेन्द्रिय जातिमें जन्म ही नहीं लेते, अतः एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियोंका बन्ध उनके नहीं होता। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्योंके यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उनके भी एकेन्द्रियजाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता। किन्तु ईशान स्वर्ग तकके देवोंमें यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, क्योंकि देव मरकर नरकमें जन्म नहीं लेता है। अतः पन्द्रहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें तथा तीनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देवगतिमें ही जानना चाहिये॥

अब शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

---

१ कर्मकाण्डमें भी ११६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए लिखा है—

'णरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥
देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥"

अर्थात्– देवायुके बिना शेष तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, विकलत्रिक, और सूक्ष्मत्रिकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। औदारिकद्विक, तिर्यञ्चद्विक उद्योत, और असंप्राप्तासृपाटिका संहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। एकेन्द्रिय, आतप और स्थावरका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। और शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्वगुणसे विमुख सासादनसम्यग्दृष्टिके अधिक विशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता।

सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सामान्यसे बतलाया है। अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव किन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं—

विगलसुहुमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

अर्थ—विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक और नारकद्विकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होता है। तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, और आतपनामका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्योंके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके बतलाया है। पन्द्रह प्रकृतियोंमें से तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध देवगति और नरकगति में तो जन्मसे ही नहीं होता। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, जो भोगभूमियों में ही होती है। किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं। अतः इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्चके ही बतलाया है। इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

हैं और सञ्ज्ञी जीव भी करते हैं। उनमेंसे देवायु और नरकायुका जघन्य स्थितिबन्ध पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य करते हैं, तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय वगैरह करते हैं। शेष ८५ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है, क्योंकि प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध को बतलाते हुए यह लिख आये हैं कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके ही होता है, क्योंकि उनके बन्धकोंमें वही विशेष विशुद्धिवाला होता है। अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होनेके कारण उक्त प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधते हैं। तथा, यद्यपि विकलेन्द्रियादिमें एकेन्द्रियासे अधिक विशुद्धि होती है, किन्तु वे स्वभावसे ही प्रस्तुत प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बाधते हैं, अतः शेष प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवको ही बतलाया है।

प्रकृतियोंके स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं—

उक्कोसजहन्नेयरभगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध। दूसरी तरहसे भी बन्धके चार भेद हैं—सादि बन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्ध। आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उन कर्मोंके शेष तीन बन्ध और आयुकर्मके चारों बन्ध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकारके होते हैं।

---

१ कर्मकाण्ड गा० १५१ में, कर्मप्रकृति पृ० २०२ बन्धनकरणमें और पञ्चसङ्ग्रह गा० २७० में जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाया है।

साय-जसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नीवि आउ बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥ ४५ ॥

अर्थ—सात वेदनीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, इन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म-साम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है । वैक्रियषट्क अर्थात् वैक्रियद्विक, नरकद्विक और देवद्विकका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च करता है । चारों आयुओंका जघन्य स्थितिबन्ध संज्ञी और असंज्ञी, दोनों ही करते हैं । तथा, शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है ।

भावार्थ—जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए इस गाथामें सात वेदनीय आदि सत्रह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी सूक्ष्म-साम्परायक्षपकको बतलाया है, क्योंकि सात वेदनीयके सिवा शेष सोलह प्रकृतियाँ इसी गुणस्थान तक बधती हैं, अतः उनके बन्धकोंमें यही गुण-स्थान विशेष विशुद्ध है । तथा, यद्यपि सात वेदनीयका बन्ध तेरहवें गुण-स्थान तक होता है, तथापि स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबन्धका कारण कषाय है और कषायका उदय दसवें गुण-स्थान तक ही होता है । अतः सात वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध भी दसवें गुणस्थानमें ही बतलाया है ।

वैक्रियषट्कका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च करते हैं, क्योंकि देव, नारक, और एकेन्द्रिय तो नरकगति और देवगतिमें जन्म ही नहीं ले सकते, और संज्ञी तिर्यञ्च तथा मनुष्य स्वभावसे ही उक्त छह प्रकृतियोंका मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं । अतः असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्चके ही उनका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है ।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी जीव भी करते

अत ग्यारहवें गुणस्थानमें अजघय बध न करके, वहासे च्युत होकर जब जीव पुन सात कर्मोंका अजघन्य बध करता है, तब वह बध सादि कहलाता है। नौवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें आनेसे पहले उक्त सात कर्मोंका जो अजघन्यबध होता है, वह अनादि कहलाता है, क्योंकि अनादिकालसे निरन्तर उसका बध होता रहता है। अभव्यके जो अजघय बध होता है, वह ध्रुव कहलाता है, क्योंकि उसका अन्त नहीं होता है। और भव्यके जो अजघयबध होता है, वह अध्रुव कहा जाता है, क्योंकि उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार सात कर्मोंके अजघयबधमें चारों ही भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष तीन बधोंमें सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि हम लिख आये हैं कि मोहनीयकर्मका नौवें गुणस्थानके अन्तमें और शेष छह कर्मोंका दसवें गुणस्थानके अन्तमें जघन्य स्थितिबध होता है, इससे पहले नहीं होता है, अत वह बध सादि है। तथा, उसके बाद बारहवें आदि गुणस्थानोंमें उसका सर्वथा अभाव होजाता है, अत वह अध्रुव है। इस प्रकार जघन्यबधमें केवल दो ही विकल्प होते हैं। तथा उत्कृष्ट स्थितिबध सक्लिष्ट परिणामी पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। यह बध कभी कभी ही होता है, सर्वदा नहीं होता, अत सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद नियमसे इसका स्थान अनुत्कृष्ट बध ले लेता है, अत अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्टबधमें भी दो ही विकल्प होते हैं। उत्कृष्टबधके पश्चात् अनुत्कृष्ट बध होता है, अत वह सादि है और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तके बाद और अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बाद उत्कृष्ट बधके होनेपर अनुत्कृष्टबध रुक जाता है अत वह अध्रुव कहा जाता है। सारांश यह है कि उत्कृष्ट-बध लगातार अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बध लगातार अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल [illegible]
है। उसके बाद [illegible] दूसरेका स्थान ले लेते हैं,

अजघन्य बंधके चारों ही विकल्प होते हैं, जो मूलकर्मोंके अजघन्यबंध ही की तरह जानने चाहियें। अर्थात् उपशमश्रेणिमें इन अठारह प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद करके, वहांसे च्युत होकर जब पुनः उनका अजघन्य बंध करता है तो वह बंध सादि होता है। उपशमश्रेणि चढने से पहले वह बंध अनादि होता है। तथा, अभव्यका वही बंध ध्रुव होता है और भव्यका अध्रुव होता है। इन्हीं अठारह प्रकृतियोंके शेष तीन बंध सादि और अध्रुव, दो ही तरह के होते हैं, क्योंकि नौवें गुणस्थानमें अपनी अपनी बंधव्युच्छित्तिके समय संज्वलनचतुष्कका जघन्य बंध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानके अन्तम शेष चौदह प्रकृतियोंका जघन्य बंध होता है। यह बंध इन गुणस्थानोंमें आनेसे पहले नहीं होता, अतः सादि है और आगेके गुणस्थानोंमें जानेपर बिल्कुल रुक जाता है, अतः अध्रुव है। इसी प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टबन्धभी समझ लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनों बंध भी परिवर्तित होते रहते हैं, कभी जीव उत्कृष्टबंध करता है और कभी अनुत्कृष्टबंध करता है।

शेष एक सौ दो प्रकृतियोंके चारों ही प्रकारके बंधोंके सादि और अध्रुव भङ्ग ही होते हैं, क्योंकि पाँच निद्रा, मिथ्यात्व, प्रारम्भकी बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण, इन उनतीस प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबंध विशुद्धियुक्त बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव संक्लिष्ट

---

१ 'अट्ठारसण्ह खवगो, बादर एगिंदि सेस धुवियाण।
पज्जो कुणइ जहन्नं साई अधुवो अओ एसो ॥२६८॥' पंचस०।
अर्थ-अट्ठारह प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्षपक श्रेणीमें होता है, और शेष ध्रुव प्रकृतियोंका जघन्यबंध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अतः यह बंध भी सादि और अध्रुव होता है।

परिणामी होनेपर उन प्रकृतियोंका अजघन्य बंध करता है। उसके बाद उसी भवमें अथवा दूसरे भवमें विशुद्ध परिणाम होनेपर वही जीव पुनः उनका जघन्य बंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य बंध बदलते रहते हैं, अतः दोनों ही सादि और अध्रुव होते हैं। तथा, इन्हीं उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बंध संक्लिष्टपरिणामी पञ्चेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव उनका अनुत्कृष्ट बंध करता है, उसके बाद पुनः उत्कृष्ट बंध करता है। इस प्रकार बदलते रहनेके कारण ये दोनों बंध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबंधिनी हैं, अतः अध्रुवबंधिनी होनेके कारण ही उनके जघन्य आदि स्थितिबंध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंके बंधोंमें सादि आदि भङ्गोंको जानना चाहिये।

स्थितिबंधमें सादि आदि भङ्गोंका निरूपण करके अब गुणस्थानोंमें स्थितिबंधका विचार करते हैं—

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटीसागरसे न तो अधिक ही स्थिति बंधती है और न कम ही बंधती है। तथा भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबंध नहीं होता है।

भावार्थ—पहले सामान्यसे और पीछे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबंधका प्रमाण बतलाया था। इस गाथामें गुणस्थानोंकी

१ कर्मप्रकृति, बन्धनकरणमें पृ० २०० स, पञ्चसङ्ग्रहमें गा० २६६ स और कर्मकाण्डकी गाथा १५२–१५३में स्थितिबंधमें उक्त भङ्गोंका निरूपण किया है।

अपेक्षासे उसका प्रमाण बतलाया है। अर्थात् यहाँ यह बतलाया है कि किस गुणस्थानमें कितना स्थितिबन्ध होता है ? सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता है। इससे यह आशय निकलता है कि अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। सारांश यह है कि सास्वादन आदि गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, अत उनके अन्त कोटीकोटीसागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक बन्ध नहीं होता।

शङ्का—कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन करनेवालोंके भी मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटीकोटी सागर प्रमाण बतलाया है। ऐसी दशामें यह कथन ठीक नहीं है कि सास्वादनसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तकके जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, इसलिये उनके अन्त कोटी कोटी सागरसे अधिक बन्ध नहीं होता है।

समाधान—यह ठीक है कि ग्रन्थिका भेदन करनेवालोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, किन्तु सम्यक्त्वका वमन करके जो पुन मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाते हैं, उनके ही वह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। यहाँ तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले सास्वादन आदिके ही उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निषेध किया है, अत कोई दोष नहीं है। **आवश्यक** आदि ग्रन्थोंमें

---

१ 'यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्योत्कृष्ट स्थिती कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बन्धेण न वोल्इ कयाइ' इति वचनात्। एष सिद्धान्तकाभिप्राय। कार्मग्रन्थिकास्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति प्रतिपन्ना।' आव० नि० टी० पृ० १११ उ०।

अर्थात्-सम्यक्त्वको प्राप्त करके, उसके छूट जानेपर भी एक बार ग्रन्थिका भेदन करनेके बाद कर्मप्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता।

जो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले मिथ्यादृष्टिके भी उत्कृष्ट बन्धका प्रतिपेध किया है, यह सैद्धान्तिकोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो यदि मिथ्यादृष्टिके भी मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति बधती है, किन्तु उसमें उतनी तीव्र अनुभाग शक्ति नहीं होती। अतः सास्वादनसे अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता। तथा, उससे कम भी नहीं होता। सारांश यह है कि दूसरेसे आठवें गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण ही स्थिति बधती है, न इससे अधिक बधती है और न कम।

शङ्का—जब एकेन्द्रिय आदि जीव सास्वादन गुणस्थानमें होते हैं, उस समय उनके है सागर आदि प्रमाण ही स्थिति बधती है। अतः सास्वादन आदि गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं जचता।

समाधान—उक्त आशङ्का उपयुक्त है। किन्तु इस प्रकारकी घटनाएं क्वचित् ही होती हैं, अतः उसकी विवक्षा नहीं की है।[1] अस्तु,

अपूर्वकरण गुणस्थानतक अन्तःकोटीकोटी सागरसे हीन स्थितिबन्धका निषेध करनेसे यह स्पष्ट ही है कि उससे आगे अनिवृत्तिकरण वगैरह गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे भी कम स्थितिबन्ध होता है।

सास्वादन वगैरहमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्धका निषेध करनेसे स्वभावतः यह जाननेकी रुचि होती है कि क्या कोई मिथ्यादृष्टि जीव

क्योंकि 'बधेण न वोलइ कयाइ' ऐसा शास्त्रमें लिखा है। किन्तु यह सिद्धान्त शास्त्रियोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेपर भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

१ "सत्यमेतत्, केवल कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि।' पञ्चमकर्म० स्वोपज्ञ टी०।'

भी ऐसा होता है, जिसके अन्त कोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। इसीसे ग्रन्थकारने बतलाया है कि भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्त कोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। यहाँ भव्यसंज्ञीके साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्यसंज्ञीके अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानमें हीन बन्ध भी होता है। तथा, संज्ञी विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्य असंज्ञीके हीन स्थितिबन्ध होता है। अभव्य संज्ञीके तो अन्त कोटीकोटीसागरसे हीन स्थितिबन्ध होता ही नहीं है, क्योंकि ग्रन्थिका भेदन करनेवालेके ही हीन स्थितिबन्ध होता है। किन्तु अभव्यसंज्ञी अधिकसे अधिक ग्रन्थिदेश तक तो पहुँच जाता है, किन्तु उसका भेदन करनेमें असमर्थ होनेके कारण पुनः नीचे आ जाता है।

गुणस्थानोंमें स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब तीन गाथाओंके द्वारा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

जइलहुबन्धो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥
तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

अर्थ—१ सबसे जघन्य स्थितिबन्ध यति अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थानवर्ती साधुके होता है। २-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है। ३-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ४-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ५-उससे सूक्ष्म

अपर्याप्तक एकेंद्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ६-उससे सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेंद्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ७-उससे बादर अपर्याप्तक एकेंद्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ८-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेंद्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ९-उससे बादर पर्याप्तक एकेंद्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १०-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। ११-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १२-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १३-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १४-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १५-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १६-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १७-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अधिक है। १८-उससे पर्याप्तक चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १९-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २०-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २१-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २२-उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। २३-उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २४ उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २५-उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २६-उससे संयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २७-उससे देशसंयतका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २८-उससे देशसंयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २९-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। ३०-उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य

१ स्वोपज्ञटीकामें अविरत सम्यग्दृष्टि और संज्ञिपंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिमें

स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। ३१-उससे अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। ३२-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। ३३-उससे अपर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है। ३४-उससे पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। ३५-उससे अपर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। ३६-उससे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है।

भावार्थ—इन तीन गाथाओंके द्वारा यह बतलाया गया है कि किस जीवके अधिक स्थितिबन्ध होता है और किस जीवके कम स्थितिबन्ध होता है। इसीको अल्पबहुत्व कहते हैं। सबसे जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानमें होता है, उससे हीन स्थितिबन्ध किसी भी जीवके नहीं होता। यद्यपि आगेके गुणस्थानोंमें एक समयका ही स्थिति बन्ध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं अत वहाँ स्थितिबन्धकी विवक्षा ही नहीं है। इसीलिये दसवें गुणस्थानसे ही स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। और पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके सबसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, अत वह वर्णन वहा आकर समाप्त होता है। स्थिति-

---

स्थितिका अल्पबहुत्व बतलाते हुए अपर्याप्तकके जघन्य स्थितिबन्धसे पर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यात गुणा बतलाया है। अथात् अपर्याप्तका जघन्य स्थान पहले रखा है और पर्याप्तका जघन्य स्थान बादको रक्खा है। किन्तु गुजराती टबेमें तथा कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) की गा० ८१ की प्राचीन चूर्णि और दोनों टीकाओंमें पर्याप्तके जघन्य स्थितिबन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा बतलाया है। तथा कर्मग्रन्थमें भी द्वीन्द्रियादिकमें पर्याप्तके जघन्य स्थितिबन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध ही अधिक बतलाया है। इसलिये उक्त दोनों स्थानोंमें भी हमने वही क्रम रखा है। स्वोपज्ञटीका का वह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है।

होता है। किन्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय होनेके कारण संयमी मनुष्यकी चैतन्यशक्ति खूब विकसित होजाती है, अतः यद्यपि संयमी होनेके कारण संज्ञीपञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे उसका स्थितिबन्ध बहुत कम होता है, तथापि असंज्ञि पञ्चेन्द्रियकी अपेक्षासे वह अधिक ही है। यह सब जीवके भावों और अवस्थाओंका ही परिणाम है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितने स्थितिबन्ध बतलाये हैं उन सबका प्रमाण अन्तःकोटीकोटी सागर ही है। अर्थात् उन स्थितिबन्धोंमें अन्तःकोटाकोटी सागरकी ही स्थिति बंधती है। जैसा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें लिखा है—

"ओघुक्कोसो सण्णिस्स होइ पज्जत्तगस्सेव ॥८२॥" "अब्भिंतरतो उ कोडाकोडीए'त्ति एवं संजयस्स उक्कोसातो आढत्त कोडाकोडीए अब्भिंतरतो भवति।"

अर्थात्—संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितना भी स्थितिबन्ध है वह कोटाकोटी सागरके अन्दर ही जानना चाहिये। और संज्ञीपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण वही है जो सामान्यसे उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण बतलाया है।

स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब उस स्थितिको शुभ और अशुभ बतलाते हुए उसका कारण बतलाते हैं—

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साइसंकिलेसेण।
इयरा विसोहिउ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ ५२ ॥

---

१ तुलना कीजिये—

'सव्वाण ठिइ असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए, सुरनरतिरिआउए मोत्तु ॥२७१॥' पञ्चसं०

अर्थ—मनुष्यायु, देवायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ कही जाती है, क्योंकि उसका बन्ध अति संक्लेश परिणामोंसे होता है। और जघन्य स्थितिका बन्ध विशुद्ध भावोंसे होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बतलाया है कि देवायु, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय शेष सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ और जघन्य स्थिति शुभ होती है। अर्थात् पुण्यप्रकृति हो अथवा पापप्रकृति हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति अच्छी नहीं समझी जाती है। यह बात बतलानेकी आवश्यकता सम्भवतः इसलिये हुई कि साधारण जन शुभ प्रकृतिमें अधिक स्थितिके पड़नेको अच्छा समझते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिके बंधनेसे शुभ प्रकृति बहुत दिनों तक शुभ फल देती रहती है। किन्तु शास्त्रकारोंका कहना है, कि अधिक स्थितिबन्धका होना अच्छा नहीं है, क्योंकि स्थितिबन्धका मूल कारण कषाय है, जिस श्रेणीकी कषाय होती है स्थितिबन्ध भी उसी श्रेणीका होता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट कषायसे होता है, इसलिये उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

शंका—शास्त्रोंमें लिखा है कि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः स्थितिबन्धकी तरह अनुभागबन्ध भी कषायसे ही होता है। ऐसी परिस्थितिमें उत्कृष्ट अनुभागको भी उसी तरह अशुभ मानना चाहिये, जैसे कि उत्कृष्ट स्थितिको अशुभ माना जाता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषाय है। किन्तु शास्त्रोंमें शुभ प्रकृतियोंके अनुभाग बन्धको शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धको अशुभ बतलाया है।

उत्तर—यद्यपि अनुभाग बन्धका कारण भी कषाय ही है, और स्थितिबन्धका कारण भी कषाय ही है, तथापि दोनोंमें बड़ा अन्तर है। कषायकी

१ इसी बातको कर्मकाण्डमें इस प्रकार कहा है—
'सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाण तु ॥ १३४ ॥'

तीव्रता होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और शुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। तथा, कषायकी मन्दता होनेपर शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और अशुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृतिके अनुभागबन्धकी हीनाधिकता कषायकी हीनाधिकता पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु शुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित है, और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी मन्दता और तीव्रता पर अवलम्बित है। सारांश यह है कि अनुभाग बन्धकी दृष्टिसे कषायकी तीव्रता और मन्दताका प्रभाव शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर बिल्कुल विपरीत पड़ता है। किन्तु स्थितिबन्धमें यह बात नहीं है, क्योंकि कषायकी तीव्रताके समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सबमें ही स्थितिबन्ध अधिक होता है और इसी तरह कषायकी मन्दताके समय जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं उन सबमें ही स्थितिबन्ध कम होता है। अतः स्थितिबन्धकी अपेक्षासे कषायकी तीव्रता और मन्दता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एकसा होता है। जैसे अनुभागमें शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषायका जुदा जुदा प्रभाव पड़ता है, वैसे स्थितिबन्धमें नहीं पड़ता है। दूसरी रीतिसे इसी बातको यों कहना चाहिये कि जब जब शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, तब तब उनमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है, और जब जब उनमें जघन्य अनुभागबन्ध होता है तब तब उनमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धका कारण कषायकी मन्दता है जो कि जघन्य स्थितिबन्धका कारण है। तथा उनके जघन्य अनुभागका कारण कषायकी तीव्रता है जो कि उत्कृष्ट स्थितिबन्धका कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियोंकी बात। अशुभ प्रकृतियोंमें तो अनुभाग अधिक होनेपर स्थिति भी अधिक होती है, और अनुभाग कम होने पर स्थितिबन्ध भी कम होता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषायकी तीव्रता

ही है। अत उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ही अशुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है, और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध शुभ है क्योंकि उसका कारण कषायोंकी मन्दता है। अत उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी तरह उत्कृष्ट अनुभागबन्धको सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उत्कृष्ट सक्लेशसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और विशुद्धिसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है, किन्तु तीन प्रकृतियाँ—देवायु, मनुष्यायु और नरकायु, इस नियमके अपवाद हैं। इन तीन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है क्योंकि उसका बन्ध विशुद्धिसे होता है, और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योंकि उसका बन्ध सक्लेशसे होता है। साराश यह है कि इन तीनों प्रकृतियोंके सिवाय शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बधती है और जघन्य स्थिति मन्द कषायसे बँधती है, किन्तु इन तीनों प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मन्द कषायसे और जघन्य स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है।

ऊपर बतलाया है कि सब प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है। किन्तु केवल कषायसे ही स्थितिबन्ध नहीं होता, अपितु उसके साथ योग भी रहता है। अत सब जीवोंमें उस योगके अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असखगुणो॥ ५३॥
अमपज्जत्तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर सखगुणा परमपजबिए असखगुणा॥ ५४॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें सबसे अल्प योग होता है। उससे बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असज्ञी और सज्ञी लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग असख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भके दो लब्ध्यपर्याप्तक अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे अपर्याप्त अर्थात् अपर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुण होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुण हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बन्धके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बन्धके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिल्कुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरजको आत्मा तक लाता है।

पञ्चसङ्ग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

**"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥ ३०६॥"**

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामालम्बण गहण साहणं तेण लद्धनामतिगं।"

अर्थात्—पुद्गलोंका परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीररूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है, और परिणमा करके उनका आलम्बन अर्थात् साहाय्य लेता है। इसीसे योगके तीन नाम हो जाते हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। मनके अवलम्बनसे जो योग अर्थात् व्यापार होता है उसे मनोयोग कहते हैं। वचनका अवलम्बन लेकर जो व्यापार किया जाता है, उसे वचनयोग कहते हैं। और श्वासोच्छ्वास वगैरहके अवलम्बनसे जो व्यापार होता है उसे काययोग कहते हैं। सारांश यह है कि योग नामक शक्तिकी वजहसे ही जीव मन, वचन और काय वगैरहका निर्माण करता है और वह मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्तिके आलम्बन होते हैं। इस प्रकार पुद्गलोंके ग्रहण करनेमें, ग्रहण किये हुए पुद्गलोंका शरीरादिरूप परिणमानेमें और उनका अवलम्बन लेनेमें जो साधन है उसे ही योग कहते हैं।

जीवकाण्डमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१५ ॥"

अर्थात्—पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है, उसे योग कहते हैं। इस प्रकार जैन वाङ्मयमें वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अथवा क्षयसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसके द्वारा पुद्गलोंके ग्रहण वगैरहमें आत्माका जो व्यापार होता है, उसे योग कहते हैं।

यह योग एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवोंमें यथायोग्य पाया जाता है उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक जघन्य और दूसरी

---

१ कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ ६। १ ॥ तत्त्वार्थसूत्र।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे असंज्ञी अपर्याप्त व पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बन्धके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बन्धके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिल्कुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरहित आत्मा तक होता है।

पञ्चसङ्ग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया ॥ ३९६ ॥"

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कम्मपयडि (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामालंबणगहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं ।"

अर्थात्—पुद्गलोंको परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

द्वीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २५-उससे पश्चात त्रीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २६-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २७-उससे पर्याप्त असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २८-उससे पर्याप्त सञ्ज्ञी पंचेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है।

इस प्रकार चौदह जीव समासोंमें जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे योगोंके २८ स्थान होते हैं। तथा, पर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें कुछ स्थान और भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

२९-पर्याप्त सञ्ज्ञीके उत्कृष्टयोगसे अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३०-उससे ग्रैवेयकवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३१-उससे भोग भूमिज तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३२-उससे आहारक शरीरियोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३३-शेष देव, नारक तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग उत्तरोत्तर असङ्ख्यातगुणा है। यहाँ सर्वत्र गुणाकारका प्रमाण पल्यासमके असङ्ख्यातवें भाग जानना चाहिये। अर्थात् पहले पहले योग स्थानमें पल्यके असङ्ख्यातवें भागका गुणा करनेपर आगे आगेके योगस्थानका प्रमाण आता है। इस कथनसे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर जीवकी शक्तिका विकास होता जाता है त्यों त्यों योगस्थानोंमें भी वृद्धि होती जाती है, क्योंकि जीवकी शक्ति ही तो योग है। जघन्य योगसे जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है और उत्कृष्ट योगसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है।

---

१ कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) में असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्ट योग असङ्ख्यातगुणा बतलाया है। यथा—

"अमणाणुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयतइयतणुगेसु।
कमसो असंखगुणिओ सेसेसु य जोग उक्कोसो ॥ १६ ॥"

डेढ़गाथामें योगस्थानोंका अल्पबहुत्व बतलाकर ग्रन्थकार स्थिति-स्थानोंका कथन करते हैं। किसी प्रकृतिकी जघन्य स्थितिसे लेकर एक एक समय बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त स्थितिके जो भेद होते हैं उन्हें स्थिति स्थान कहते हैं। जैसे, यदि किसी कर्मकी जघन्य स्थिति १० समय है और उत्कृष्ट स्थिति १८ समय है। तो दससे अठारहतक स्थितिके नौ भेद होते हैं, इन्हें ही स्थितिस्थान कहते हैं। ये स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर सङ्ख्यातगुण

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा २१८ से ४२ गाथाओंमें योगस्थानोंका विस्तृत वर्णन किया है। उसमें योगस्थानके तीन भेद किये हैं—उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और परिणामयोगस्थान। विग्रहगतिमें जो योग स्थान होता है उसे उपपादयोगस्थान कहते हैं। उसके बाद शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेतक जो योगस्थान होता है उसे एकान्तानुवृद्धियोगस्थान कहते हैं। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद परिणामयोगस्थान होता है। ये तीनों ही योग स्थान जघन्य भी होते हैं और उत्कृष्ट भी और वे चौदह ही जीवसमासोंमें पाये जाते हैं अतः योगस्थानोंके समस्त भेद ८४ होते हैं। कर्मग्रन्थमें उक्त तीन भेद नहीं किये हैं इसलिये वहाँ २८ ही भेद बतलाये हैं। दोनों ग्रन्थोंके भेदक्रममें भी अन्तर है।

कर्मकाण्डमें स्थितिस्थान बतलानेके लिये भी वही क्रम अपनाया गया है जो एकेन्द्रियादिक जीवोंकी स्थिति बतलानेके लिये अपनाया गया है और जिसे पहले कह आये हैं।

कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहमें बन्धनकरणके प्रारम्भमें योगस्थानोंका वर्णन है।

२ 'तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थिति पर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते।'

पञ्च० कर्म० टी० पृ० ५५, प० ३।

सख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके स्थितिस्थान सबसे कम हैं। २-उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ३-उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ४-उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इन स्थितिस्थानोंका प्रमाण *पल्यके असङ्ख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंकी* जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका अन्तराल इतना ही होता है।

५-बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थानसे अपर्याप्तक द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं। ६-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ७-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ८-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं। ९-उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १०-उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ११ उससे अपर्याप्त असज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १२-उससे पर्याप्त असज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १३-उससे अपर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं। १४-उससे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों स्थितिका प्रमाण बढ़ता जाता है त्यों त्यों स्थितिस्थानोंकी सङ्ख्या भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार योगोंका अल्पबहुत्व और स्थितिस्थानोंका प्रमाण जानना चाहिये।

योगके प्रसङ्गसे स्थितिस्थानोंका निरूपण करके, अब अपर्याप्त जीवोंके प्रति समय जितने योगकी वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं—

पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिइमसखलोगसमा।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥

गुणी असङ्ख्यातगुणी जाननी चाहिये ।

स्थितिबन्धका अध्यवसायसे सब कर्मोंके अध्यवसायस्थानोंको बतलाकर, अब जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पंचेन्द्रियोंके अधिकसे अधिक जितने कालतक बन्ध नहीं होता, उस कालको तथा उन प्रकृतियोंको दो गाथाओं से कहते हैं—

तिरिनरयतिजोयाण नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीस पणिंदिसु अबन्धठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अर्थ–पञ्चेन्द्रिय जीवोंके तिर्यक्त्रिक (तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी और तिर्यगायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) तथा उद्योत, इन सात प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम कालतक नहीं हो सकता। स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय और आतप, इन नौ प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पिचासी सागरतक नहीं हो सकता ।

अप्रथम संहनन अर्थात् पहले संहननके सिवाय शेष पाँच संहनन, अप्रथम आकृति अर्थात् पहले संस्थानके सिवाय शेष पाँच संस्थान, अप्रथम खगति अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि), नीचगोत्र, नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित एक सौ बत्तीस सागरोपम कालतक नहीं हो सकता ।

भावार्थ–इन गाथाओंमें जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रिय

जावके उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया है, उनमेंसे सोलह प्रकृतियोंका बन्ध तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है और शेष पचीस प्रकृतियां द्वितीय गुणस्थान तक ही बधती हैं। साराश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध उन्हीं जीवोंके होता है, जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानोंको छोड़कर आगे बढ़जाते हैं उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता जबतक वे जीव पुन उन गुणस्थानोंमें लौटकर नहीं आते। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि दूसरे गुणस्थानसे आगे पञ्चेन्द्रिय जीव ही बढ़ते हैं, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंके आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीसे उक्त इकतालीस प्रकृतियोंके अबन्धका काल पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाया है। अत जो पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि होजाते हैं, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता, जबतक वे सम्यक्त्वसे च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें नहीं आते। किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें आनेपर भी कभी कभी उक्त प्रकृतियां नहीं बधती, जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा। इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखकर उक्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अबन्धकालको उक्त दो गाथाओंके द्वारा बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—तिर्यञ्चत्रिक, नरकत्रिक और उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभवसहित चारपल्य अधिक एकसौ त्रेसठ सागर बतलाया है, जो इसप्रकार है—कोई जीव तीन पल्यकी आयु बाधकर देवकुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। वहांपर उसके उक्त सात प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंका बन्ध वही कर सकता है, जो तिर्यग्गति या नरकगति में जन्म ले सके। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियमसे देव ही होते हैं, अत वे तिर्यग्गति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते हैं। अस्तु, भोगभूमिमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके वह जीव एक पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्वके होनेके कारण वहां भी उसके उक्त सात

जोड़कर मनुष्य भव सहित, चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागर प्रमाण उक्त प्रकृतियोंका अबन्धकाल होता है।

इस अबन्धकालको बतलाते हुए ग्रैवेयकमें जो सम्यक्त्वसे पतन बतलाया है वह सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण बतलाया है। इसी प्रकार विजयादिकमें ६६ सागर पूर्ण करलेनेके बाद मनुष्यभवमें जो अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें गमन बतलाया है, वह भी सम्यक्त्वके काल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण ही बतलाया है, क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्कृष्टस्थिति ६६ सागर है।

स्थावर चतुष्क आदि नौ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक १८५ सागर बतलाया है, जो इस प्रकार है—कोई जीव बाइस सागरकी स्थिति लेकर छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहां इन प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, क्योंकि नरकसे निकल करके जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक ही होता है, एकेन्द्रिय अथवा विकलत्रय नहीं होता। वहां मरते समय सम्यक्त्वको प्राप्तकरके मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुआ, और अणुव्रती होकर मरणकरके चार पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहांसे च्युत होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म लेकर, महाव्रत धारणकरके, नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी स्थितिवाला देव हुआ। वहां अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यादृष्टि होगया। अन्त समय सम्यग्दृष्टि होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म-लेकर, महाव्रतका पालन करके, दो बार विजयादिकमें उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। पहलेकी ही तरह मनुष्यपर्यायमें अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर, पुनः सम्यक्त्वको प्राप्तकरके, तीन बार अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न हुआ, और इसप्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इन सब कालोंको जोड़नेसे मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक २२+३१+६६+६६=१८५ सागर उत्कृष्ट अबन्धकाल होता है।

प्रथम संहनन आदि २५ प्रकृतियोंका अबन्धकाल मनुष्यभव सहित

बन्ध कर सकता है। तथा स्थावरकायमें जन्म लेनेवाला जीव असंख्यात पुद्गलपरावर्त कालतक स्थावरकायमें ही पड़ा रह सकता है और वहां औदारिक शरीरके सिवाय वैक्रियशरीर वगैरहका बन्ध नहीं होता।

इसीप्रकार सातवेदनीयका भी जघन्य बन्धकाल एक समय है और उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ[1] कम एक पूर्वकोटी है। एक समयतक सातवेदनीय-का बन्ध करके जब कोई जीव दूसरे समयमें असातवेदनीयका बन्ध करता है तो जघन्य बन्धकाल एक समय ठहरता है। तथा, जब कोई कर्मभूमिया मनुष्य आठवर्षकी उम्रके बाद जिनदीक्षा धारण करके केवलज्ञान प्राप्त करता है तो उसके कुछ अधिक आठवर्ष कम एक पूर्वकोटि कालतक निरन्तर सातवेदनीयका ही बन्ध होता रहता है, क्योंकि छठे गुणस्थानके बाद उसकी विरोधी असातवेदनीय प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, तथा कर्मभूमिया मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण आये हैं। अतः सातवेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठवर्षकम एक पूर्वकोटी जानना चाहिये॥

जलहिसय पणसीय परघुस्सासे पणिंदितसचउगे।

---

१ "देशोनपूर्वकोटिमानमात्रैवम्-इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान् सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।" पञ्चसं०, पृ० ७७, मलय० टी०।

अर्थ-कुछकम पूर्वकोटिकी भावना इस प्रकार है-एक पूर्वकोटिकी आयु वाला कोई मनुष्य गर्भमें कुछ अधिक नौ मास व्यतीत करता है। उत्पन्न होनेपर भी आठवर्ष तक देशविरति अथवा सर्वविरतिको धारण नहीं कर-सकता, क्योंकि आठवर्षके नीचेके सभी व्यक्ति एकदेश या सर्वदेश विरति को धारण नहीं कर सकते, ऐसा उनका स्वभाव ही है।

उरालि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

अर्थ–तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नीच गोत्रका निरन्तर बंधकाल एक समयसे लेकर असंख्यात कालतक जानना चाहिए। आयुकर्मका निरंतर बंधकाल अन्तमुहूर्त है। औदारिक शरीरका निरन्तर बंधकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है, और सातवेदनीयका निरन्तर बंधकाल कुछ कम एक पूर्वकोटी है।

भावार्थ–तिर्यञ्चद्विक और नीचगोत्र जघन्यसे एक समयतक बंधते हैं, क्योंकि दूसरे समयमें उनकी विरोधी प्रकृतियोंका बंध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय या वायुकायमें जन्मलेता है, तो उसके तिर्यग्द्विक और नीच गोत्रका बंध तबतक बराबर होता रहता है, जबतक वह जीव उस कायमें ही बना रहता है, क्योंकि तेजस्काय और वायुकायमें तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वीके सिवाय किसी दूसरी गति और आनुपूर्वी का बंध नहीं होता और न उच्चगोत्रका ही बंध होता है। तेजस्काय और वायुकायमें जन्मलेने वाला जीव असंख्यात लोकाकाशोंके जितने प्रदेश होते हैं, अधिकसे अधिक उतने समयतक बराबर तेजस्काय या वायुकायमें ही जन्मलेता रहता है, अतः उक्त तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट निरन्तर बंधकाल असंख्यात समय अर्थात् असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्ट बंधकाल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तमुहूर्तके बाद उसका बंध रुक जाता है। क्योंकि आयुकर्मका बंध एक भवमें एक ही बार होता है और वह अधिकसे अधिक अन्तमुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्मका जघन्य बंधकाल एक समय और उत्कृष्ट बंधकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्त [illegible] जीव एक समयतक औदारिक शरीरका बंधकर [illegible] समय [illegible] वैक्रियशरीर वगैरहका

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ पिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अबन्धकालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ परघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर चारपल्यकी स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे परघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय

१ पञ्चसङ्ग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एक दम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसङ्ग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यंच अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक संसारमें भ्रमण करता है।

बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥

अर्थ—पराघात, उच्छ्वास, पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसचतुष्कका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एक सौ पिचासी सागर है। तथा, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्रसंस्थानका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है।

भावार्थ—पराघात आदि सात प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय है, क्योंकि ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः एक समयके बाद इनकी विरोधी प्रकृतियाँ इनका स्थान ले लेती हैं, तथा, इनका उत्कृष्ट बन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर है। यद्यपि गाथामें केवल एकसौ पिचासी सागर ही लिखा है, तथापि चार पल्य और भी समझना चाहिये, क्योंकि इनकी विरोधी प्रकृतियोंका जितना अबन्धकाल होता है, उतना ही इनका बन्धकाल होता है। पहले गाथा ५६में इनकी विपक्षी स्थावर चतुष्क वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर बतला आये हैं, अतः इनका बन्धकाल भी

---

१ इह च 'सचतु पल्यम्' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतु पल्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम्। यतो यावानेव द्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवास्या बन्धकाल इति। पञ्चसङ्ग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्त तदभिप्राय न विद्म इति। पञ्चमकर्मग्रन्थकी स्वो० टी० पृ० ६०।

अर्थ—यहाँ चार पल्य सहित नहीं कहा है, फिर भी 'चारपल्य सहित' ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि जितना इनके विपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध काल है उतना ही इनका बन्धकाल है। पञ्चसङ्ग्रह वगैरहमें उपलक्षण वगैरह किसी कारणसे जो चारपल्य अधिक नहीं कहा है उसका आशय हम नहीं जानते हैं।

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ पिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अबन्धकालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर चारपल्यकी स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एकदम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसङ्ग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यंच अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक ससारमें भ्रमण करता है।

है और उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है । क्योंकि गाथा ५७में इनका निरन्तर प्रकृतियाका उत्कृष्ट अबन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है, अत इनका बन्धकाल भी उसी प्रमाण उतना ही समझना चाहिये ॥

असुखगइ-जाइ-आगिइ-संघयणा-हार-नरय-जोयदुग ।
थिर-सुभ-जस-थावरदस-नपु-इत्थी-दुजुयल-ममाय ॥ ६१ ॥
समयादतमुहुत्त मणुदुग जिण-वइर-उरलवगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

अर्थ—अप्रशस्त विहायोगति, अशुभजाति अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ संहनन अर्थात् ऋषभनाराच आदि अन्तके पाँच संहनन, अशुभ आकृति अर्थात् न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान वगैरह अन्तके पाँच संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर आदि दस, नपुसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, तथा असातवेदनीय, इन इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है । मनुष्यद्विक, तीर्थङ्कर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट बन्धकाल ३३ सागर है । तथा, आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है ।

भावार्थ—अप्रशस्त विहायोगति आदि इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है । ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं अत अपनी अपनी विरोधी प्रकृतिके बन्धकी सामग्रीके होनेपर अन्तर्मुहूर्तके बाद इनका बन्ध रुक जाता है। इनमेंसे सात वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यश कीर्तिकी विरोधिनी असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिका बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अत यहाँ तक तो इनका निरन्तरबन्ध अन्त-

र्मुहूर्त तक होता ही है। किंतु उसके बादके गुणस्थानोंमें भी उनका बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है, क्योंकि उन गुणस्थानोंका काल अन्तमुहूर्त ही है।

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, तीर्थङ्करनाम, वज्रऋषभनाराचसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका निरन्तर बन्धकाल अधिकसे अधिक तेतीस सागर बतलाया है, क्योंकि अनुत्तरवासी देवके मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है, अतः वह अपने जन्म समयसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक उक्त प्रकृतियोंके विरोधी नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, देवद्विक, वैक्रियद्विक और पाँच अशुभ संहननोंका बन्ध नहीं करता। तथा तीर्थङ्कर प्रकृतिकी कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है, इसलिये वह भी तेतीस सागर तक बराबर बंधती रहती है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन पाँच प्रकृतियोंमेंसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवाय शेष चार प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है क्योंकि उन प्रकृतियोंकी विरोधिनी प्रकृतियाँ भी हैं।

ऊपर बताया गया है कि अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है। इस परसे यह आशङ्का हो सकती है कि क्या सभी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है? उसका समाधान करनेके लिये ग्रन्थकारने लिखा है कि चारों आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य बन्धकाल भी अन्तमुहूर्त प्रमाण ही है। अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति वगैरह इकतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बन्धकाल ही अन्तमुहूर्त नहीं है किन्तु आयु वगैरहका जघन्य बन्धकाल भी अन्तमुहूर्त है। इस प्रकार अध्रुवबन्धिनी होने पर भी इनके जघन्य बन्धकालमें अन्तर है। आयुकर्मके बन्धकालके बारेमें तो पहले ही लिख आये हैं कि एक भवमें केवल एक बार ही आयुका बन्ध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्तके लिये ही होता है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य बन्धकाल इस प्रकार घटित होता है—कोई जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके उपशमश्रेणि चढ़ा। वहाँ नवमें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानमें उसने तीर्थङ्करका बन्ध नहीं किया, क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका निरोध

हीनाधिकता देखी जाती है । अर्थात् उन्हीं सूखे तृणोंको खाकर ऊटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाइ बहुत अधिक रहती है। भैंसके दूधमें उससे कम गाढ़ापन और चिकनाइ रहती है । गायके दूधमें उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाइ रहती है और बकरीके दूधमें सबसे कम गाढ़ापन और चिकनाइ रहती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकारके तृण घास वगैरह भिन्न भिन्न पशुओंके पेटमें जाकर भिन्न भिन्न रसरूप परिणत होते हैं, उसी प्रकार एक ही प्रकारके कर्मपरमाणु भिन्न भिन्न जीवोंके भिन्न भिन्न कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रसवाले हो जाते हैं। इसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं । जैसे भैंसके दूधमें अधिक शक्ति होती है और बकरीके दूधमें कम, उसी तरह शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारकी प्रकृतियोंका अनुभाग तीव्र भी होता है और मन्द भी होता है । अर्थात् अनुभागबन्धके दो प्रकार हैं—एक तीव्र अनुभागबन्ध और दूसरा मन्द अनुभागबन्ध, और ये दोनों ही तरहके अनुभागबन्ध शुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं । अतः अनुभागबन्ध द्वारका उद्घाटन करते हुए ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके तीव्र और मन्द अनुभाग बन्धका कारण बतलाते हैं—

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिउ विवज्जयउ ।
मंदरसो

अर्थ—सक्लेशपरिणामोंसे अशुभप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है और विशुद्ध भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है । तथा, विपरीत भावोंसे उनमें मन्द अनुभागबन्ध होता है । अर्थात् विशुद्ध भावोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है और सक्लेश भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है ।

भावार्थ—रस या अनुभाग दो प्र

और ये दोनों ही प्रकारका अनुभाग अशुभ प्रकृतियोंमें भी होता है और शुभप्रकृतियोंमें भी होता है। अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको नीम वगैरह वनस्पतियोंके कड़ुवे रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीमका रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतियोंका रस भी बुरा समझा जाता है, क्योंकि अशुभ प्रकृतियां अशुभ ही फल देती हैं। तथा शुभ प्रकृतियोंके रस को इक्षुके रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे इखका रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंका रस सुखदायक होता है। इन दोनोंही प्रकारकी प्रकृतियोंके तीव्र और मन्दरसकी चार चार अवस्थाएँ होती हैं। जैसे, नीमसे तुरन्त निकाला हुआ रस स्वभावसे ही कटुक होता है। उस रसको अग्निपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो कटुकतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर कटुकतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त कटुक होजाता है। तथा, इखका पेरनेसे जो रस निकलता है वह स्वभावसे ही मधुर होता है। उस रसको आगपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो मधुरतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर मधुरतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका तीव्र रस भी चार प्रकारका होता है—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। तथा जैसे उस कटुक या मधुर रसमें एक चुल्लू पानी डालदेनेसे वह मन्द हो-जाता है, एक गिलास पानी डालदेनेसे वह मन्दतर होजाता है, एक लोटा पानी डालदेनेसे वह मन्दतम होजाता है और एक घड़ा पानी डालदेनेसे वह अत्यन्त मन्द होजाता है। उसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका मन्द रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अत्यन्त मन्द, इस तरह चार प्रकार का होता है। इस तीव्रता और मन्दताका कारण कषायकी तीव्रता और मन्दता है। तीव्र कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र [illegible] म प्रकृतियोंमें मन्द

प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है। इसी बातको दूसरी रीतिसे यदि और भी स्पष्ट करके कहा जाय तो कहना होगा कि संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि और विशुद्ध परिणामोंकी हानि होनेसे बयासी अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बन्ध होता है, और बयालीस शुभ प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। तथा, संक्लेश परिणामोंकी मन्दता और विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धि होनेसे बयालीस पुण्यप्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभागबन्ध होता है, और बयासी पाप प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। इन चारों प्रकारोंको क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है। अर्थात् एकस्थानिकसे तीव्र द्विस्थानिकसे तीव्रतर त्रिस्थानिकसे तीव्रतम और चतुःस्थानिकसे अत्यन्ततीव्रका ग्रहण किया जाता है। सारांश यह है कि रसके असंख्य प्रकार हैं और उन सबका समावेश इन चार प्रकारोंमें होजाता है। अर्थात् एक एकमें असंख्य असंख्य प्रकार जानने चाहियें।

अब तीव्र और मन्द अनुभागबन्धके उक्त चार चार भेद जिन कारणों से होते हैं, उन कारणोंका निर्देश करते हैं—

गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

१–सरिक–ख० पु०। २–देसघाव–ख० पु०।

३ 'आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ।
चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥१४८॥' पञ्चस०

अर्थ–ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी देशघाती प्रकृतियां, पुरुषवेद,

है। इस कषायका उदय होनेपर पुण्यप्रकृतियोंमें चतु स्थानिक रसबन्ध होता है और पापप्रकृतियोंमें केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुकरूप ही रस बन्ध होता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें क्रमश चतु स्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबन्ध होता है, तथा शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है। इस प्रकार अनुभागबन्धके चारों प्रकारोंका कारण चारों कषायोंको बतला कर, किस प्रकृतिमें कितने प्रकारका रसबन्ध होता है यह बतलाते हैं।

पाच अन्तराय आदि सतरह प्रकृतियोंमें एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक, इसप्रकार चारों ही प्रकारका रसबन्ध होता है। इनमेसे इनका एकस्थानिक रस तो नवें गुणस्थानके सख्यात भाग बीतजानेपर बधता है। और उससे नीचेके गुणस्थानोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है। इन सतरहके सिवाय शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है, किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि शेष प्रकृतियोंमें ६५ पाप प्रकृतिया हैं, और नवें गुणस्थानके सख्यातभाग बीतजाने पर उनका बन्ध नहीं होता है। अत उनमे एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है क्योंकि अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नवें गुणस्थानके संख्यात भाग बीतजानेपर ही होता है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि उक्त ६५ अशुभप्रकृतियोंमें से यद्यपि केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरणका बन्ध दसवें गुणस्थानतक होता है किन्तु ये दोनो प्रकृतिया सर्वघातिनी हैं, अत उनमे एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है।

निंबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग कड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाण तु ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसे नीमका रस कडुआ और ईखका रस मीठा होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियोंका रस अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका रस शुभ होता है। तथा, जैसे नीम और ईखके रसमें स्वाभाविक रीतिसे एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात् उनमें स्वभावसे एक सी ही कडुकता और मधुरता रहती है किन्तु आग पर रख कर उसका क्वाथ करने पर उनमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस हो जाता है, अर्थात् पहलेसे दुगुना, तिगुना और चौगुना कडुआपन और मिठास आ जाता है। उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंमें संक्लेशके बढ़नेसे अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और अत्यन्त अशुभ, तथा शुभ प्रकृतियोंमें विशुद्धिके बढ़नेसे शुभ, शुभतर, शुभतम और अत्यन्तशुभ रस पाया जाता है।

भावार्थ—पहले जो अनुभागबंधके एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये थे, इस गाथामें उन्हींका स्पष्टीकरण किया है, और उन्हें समझानेके लिये अशुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा नीमके रससे और शुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा ईखके रससे दी है। जैसे नीमका रस कडुआ होता है और पीनेवालेके मुखको एकदम कडुआ कर देता है, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है। तथा, जैसे ईखका रस मीठा और आनन्ददायक होता है उसी तरह शुभ प्रकृ-

---

१ घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो अणंतगुणिया कमेणियरे ॥१५०॥' पञ्चस० ।
अर्थ—अशुभ प्रकृतियोंके एकस्थानिक रसको घोषातकी नीम वगैरहकी उपमा दी जाती है और शुभ प्रकृतियोंके रसको क्षीर खांड [illegible] उपमा दी जाती है। बाकीके द्विस्थानिक त्रिस्थानिक वगै[illegible] गुणे रस वाले होते हैं।'

तियाका रस भी जीवको आह्लाददायक होता है।

नीम और ईखका पकने पर उनमेंसे जो स्वाभाविक रस निकलता है वह स्वभावसे ही कडुआ और मीठा होता है। उस कडुवाहट और मीठेपनको एकस्थानिक रस समझना चाहिये। नीम और ईखका एक एक सेर रस लेकर उन्हें यदि आग पर पकाया जाय और जलकर वह आध आध सेर रह जाय तो उसे द्विस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उस पके हुए रसमें दूना कडुवाहट और दूनी मधुरता हो जाती है। वही रस पक कर जब एक सेरका तिहाई शेष रह जाता है तो उसे त्रिस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पहलेके स्वाभाविक रससे तिगुनी कडुवाहट और तिगुना मीठापन पाया जाता है। तथा वही रस पकते पकते जब एक सेरका एक पाव शेष रह जाता है, तो उसे चतुःस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उसमें चौगुना कडुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है। उसी प्रकार कषायकी तीव्रताके बढ़नेसे अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है। और कषायकी मन्दताके बढ़नेसे शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है।

जैसे नीमके एकस्थानिक रससे द्विस्थानिक रसमें दूनी कडुआहट होती है, और त्रिस्थानिकमें तिगुनी कडुआहट होती है। उसी प्रकार अशुभप्रकृतियोंके जो स्पर्द्धक सबसे जघन्य रसवाले होते हैं, वे एकस्थानिक रसवाले कहे जाते हैं उनसे द्विस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंमें भी समझ लेना चाहिये।

घातिकर्मोंकी जो प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं उनके सभी स्पर्द्धक सर्व-

बन्ध उनमें हो नहीं होता । अतः नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च उक्त तीनों प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं करते, किन्तु ईशान स्वर्गतकके मिथ्यादृष्टि देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं ।

विकलत्रय आदि ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है, क्योंकि तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुके सिवाय शेष नौ प्रकृतियोंको नारक और देव तो जन्मसे ही, नहीं बांधते हैं। तथा तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध वे ही जीव करते हैं जो मरकर भोगभूमिमें जन्म लेते हैं, अतः देव और नारक इन दोनोंको भी उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं कर सकते । किन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं । इसीप्रकार शेष प्रकृतियों-का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी अपने अपने योग्य संक्लेश परिणामोंके धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही करते हैं, अतः उक्त ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उन्हींके होता है ।

तथा,तिर्यञ्चद्विक और सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देवों और नारकोंके होता है, क्योंकि यदि तिर्यञ्च और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हो तो उनके नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है । किन्तु देव और नारक अतिसंक्लिष्ट परिणाम होनेपर भी तिर्यञ्चगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं । अतः उक्त तीन प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी देवों और नारकोंको ही बतलाया है । यहां इतना विशेष वक्तव्य है कि देवगतिमें सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं, ईशान स्वर्गतकके देव उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं करते, क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव अति संक्लिष्ट परिणामोंके होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं । किन्तु सेवार्तसंहनन एकेन्द्रियके योग्य नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियोंके संहनन नहीं होता है ।।

विउव्वि सुरा-हारदुग सुखगइ-वन्नचउ-तेय-जिण-साय ।
समचउ-परघा-तसदस-पणिंदि-सासुच्च खवगाउ ॥६७॥

अर्थ—वैक्रियद्विक, सुरद्विक, आहारकद्विक, प्रशस्त विहायोगति, वर्णचतुष्क तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु और निर्माण), तीर्थङ्कर, सातवेदनीय, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, त्रस नाम आदि दस, पञ्चेन्द्रिय जाति, उछ्वास, और उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्योंके होता है ।

भावार्थ—इस गाथामें वैक्रियद्विक आदि बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्योंको बतलाया है। उनमें से सातवेदनीय, उच्चगोत्र और त्रसदशकमेंसे यशःकीर्तिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है, क्योंकि इन तीनों प्रकृतियोंके बन्धकोंमें वही सबसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अति विशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इन तीनके सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अपूर्वकरण गुणस्थानके छठे भागमें देवगतिके योग्य प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्तिके समयमें होता है। क्योंकि इन प्रकृतियोंके बाँधनेवालोंमें अपूर्वकरण क्षपक ही अति विशुद्ध होता है। इसप्रकार इन बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपक मनुष्य ही होता है।।

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुय-उरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥

अर्थ—सातवें नरकके नारक उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि देव करते हैं। देवायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अप्रमत्तसंयत मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका तीव्र अनुभागबन्ध चारों ही गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—उद्योत प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबंधका स्वामी सातवें नरकके नारकीको बतलाया है। इसका विशेष खुलासा इसप्रकार है—सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते समय अनिवृत्तिकरणमें मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। उसके करनेपर मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग हो जाते हैं, एक अन्तरकरणसे नीचेकी स्थिति, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और जिसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और दूसरा उससे ऊपरकी स्थिति, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्वकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नीचेकी स्थितिके अन्तिम समयमें, अर्थात् जिससे आगेके समयमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उस समयमें, उस जीवके उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः विशुद्ध परिणामोंसे ही उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। तथा, उसके साधनेवालोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही अतिविशुद्ध परिणामवाला है, क्योंकि अन्यगतिमें इतनी विशुद्धिके होनेपर मनुष्यगति अथवा देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही उत्कृष्ट रसबन्ध होता है। किन्तु उद्योत प्रकृति तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंमेंसे है, और सातवें नरकका नारक मरकर नियमसे तिर्यञ्चगतिमें जन्मलेता है, अतः सातवें नरकका नारक मिथ्यात्व में प्रतिसमय तिर्यञ्चगतिके योग्य कर्मोंका बन्ध करता है, अतः उसका ही ग्रहण किया है।

मनुष्यद्विक आदि पाच प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी सम्यग्दृष्टी देवोंको बतलाया है। यद्यपि विशुद्ध नारक भी इन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध कर सकते हैं, किन्तु वे सर्वदा नरकके कष्टोंसे पीड़ित रहते हैं, तथा उन्हें देवोंकी तरह तीर्थङ्करोंकी विभूतिके दर्शन, उनके दिव्य उपदेशका श्रवण, नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालयोंका वन्दन आदि परिणामोंको विशुद्ध करनेवाली सामग्री नहीं मिलती है, अतः उनका ग्रहण नहीं किया है। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्य अति विशुद्ध परिणामोंके होनेपर देवगतिके

योग्य प्रकृतियोंका भी बन्ध करते हैं। किन्तु प्रकृत प्रकृतियां देवगतिके योग्य नहीं हैं अतः उनको छोड़कर देवोंके ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध बतलाया है। देवायुके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी अप्रमत्तमुनिको बतलाया है क्योंकि देवायुका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत वगैरहसे वही अतिविशुद्ध होते हैं।

इसप्रकार ४२ पुण्य प्रकृतियोंके और चौदह पाप प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर शेष ६८ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभाग बन्धका स्वामी चारों गतिके संक्लिष्टपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब उनके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंका विचार करते हैं—

थीणतिगं अण मिच्छं मंदरस संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए॥ ६९॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, इन आठ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख देशविरत गुणस्थानवाला जीव करता है। अरति और शोकका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख प्रमत्तमुनि करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर इस गाथामें जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। पहले बतलाया था कि

१ कर्मकाण्ड गा० १६५-१६९ में उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंका निरूपण किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

करते हैं। किन्तु औदारिक अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव उत्कृष्ट संक्लेश होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, और एकेन्द्रियोंके अङ्गोपाङ्ग नहीं होता है। अतः ईशान स्वर्गतकके देवोंके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है।

शङ्का—ईशान स्वर्गतकके देव अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध न करें, तो न करें, किन्तु मनुष्य और तिर्यञ्च इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्यों नहीं करते?

उत्तर—तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंके बन्धके साथ ही इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अर्थात् जो जीव तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करता है वही इनका जघन्य अनुभागबन्ध भी करता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हों, जितने इन प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके लिये आवश्यक हैं, तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। अतः उनके इन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं बतलाया है॥

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरय विणिग-थावरयं।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिर-सुभ-जसा सिअरा ॥७२॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और नीचगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध सातवें नरकके नारक करते हैं। तीर्थङ्करनाम कर्मका जघन्य अनुभागबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सिवाय शेष तीनों गतिके जीव करते हैं। आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध सौधर्म स्वर्ग तकके देव करते हैं। सातवेदनीय, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति, और उनके प्रतिपक्षी—असातवेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यञ्चगति आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे सातवें नरकमें बतलाया है। विशेषसे, सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जब यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता हुआ अन्तके अनिवृत्तिकरणको करता है, तो वहाँ अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें उक्त तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। ये तीनों प्रकृतियाँ अशुभ हैं अतः सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। और उनके बन्धकोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। इस प्रकारकी विशुद्धिके होनेपर दूसरे जीव मनुष्यद्विक वगैरह और उच्चगोत्रका ही बन्ध करते हैं, अतः यहाँ सप्तम पृथिवीके नारकका ही ग्रहण किया है।

तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके बतलाया है। विशेषसे बद्धनरकायु अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य नरकमें उत्पन्न होनेके लिये जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है तब वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध करता है क्योंकि यह प्रकृति शुभ है। सारांश यह है कि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। किन्तु शुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेशसे होता है और यह संक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमें मिथ्यात्वके अभिमुख अविरतसम्यग्दृष्टिके ही होता है, अतः उसीका ग्रहण किया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, अतः यहाँ मनुष्यका ग्रहण किया है। जिस मनुष्यने तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले नरककी आयु नहीं बाँधी है, वह मरकर नरकमें नहीं जाता, अतः बद्धनरकायुका ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणिक राजाकी तरह सम्यक्त्वसहित मरकर नरकमें उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु वे विशुद्ध होते हैं अतः तीर्थङ्कर-प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं कर सकते। इसलिये उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबंध नरकगति के सिवाय शेष तीन गतियोंके परावर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव करते हैं। ये दोनों प्रकृतियां अशुभ हैं, अतः अतिसंक्लिष्ट जीव उनका उत्कृष्ट अनुभागबंध करता है, और अतिविशुद्ध जीव इनको छोड़कर पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामकर्मका बंध करता है। इसलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामका बंध करके जब दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें भी उन्हीं प्रकृतियोंका बंध करता है, तब भी वह मध्यम परिणाम रहता है। किन्तु उस समय उस अवस्थित परिणाममें उतनी विशुद्धि नहीं रहती है, अतः परावर्तमान मध्यम परिणामका ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब एकेन्द्रिय जाति और स्थावरनामका बंध करके पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामका बंध करता है और उनका बंध करके पुनः एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बंध करता है, तब इसप्रकारका परिवर्तन करके बंध करनेवाला परावर्तमान मध्यमपरिणामवाला जीव अपने योग्य विशुद्धिके होनेपर उक्त दो प्रकृतियोंका जघन्य अनुभाग बंध करता है।

आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबंध ईशान स्वर्गतकके देवोंके बतलाया है। गाथामें यद्यपि 'आसुहुम' पाठ है और उसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्गतक' होता है, तथापि सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणीमें वर्तमान हैं अतः सौधर्मके ग्रहणसे ईशानका भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि भवनपतिसे लेकर ईशान स्वर्गतकके देव आतपप्रकृतिके बंधकोंमें विशेष संक्लिष्ट होते हैं, अतः एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बंध करते समय वे आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः संक्लिष्ट जीवोंके ही उसका जघन्य अनुभागबंध होता है। तथा, इतने संक्लिष्ट परिणाम यदि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होते हैं तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बंध करते हैं। और नारक तथा सानत्कुमार आदि

स्वर्गोंके देव जन्मसे ही इस प्रकृतिका बंध नहीं करते हैं। अतः सबको छोड़कर ईशान स्वर्गतकके देवोंको ही उसका बंधक बतलाया है।

सातवेदनीय आदि आठ प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबंधके स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है—प्रमत्तमुनि एक अन्तर्मुहूर्ततक असातवेदनीयकी अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वह सातवेदनीयका बंध करता है, पुनः असातवेदनीयका बंध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरतसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साता का बन्ध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साताका बंध तबतक करता है, जबतक सातवेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागर होती है। उसके बाद और भी संक्लिष्ट परिणाम होनेपर केवल असाताका ही तब तक बन्ध करता है जबतक उसकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्तसे ऊपर अप्रमत्त आदि गुणस्थानवाले जीव केवल सातवेदनीयका ही बंध करते हैं। इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि सातवेदनीयके जघन्य अनुभागबंधके योग्य परावर्तमान मध्यमपरिणाम सातवेदनीयकी पन्द्रह कोटाकोटी सागर स्थितिबंधसे लेकर छट्ठे गुणस्थानमें असातवेदनीयके अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबंध तक पाये जाते हैं। सारांश यह है कि परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते हैं जबतक प्रतिपक्षी प्रकृतिका बंध होता है। अतः जबतक साताके साथ असाताका भी बंध संभव है तभीतक परावर्तमान परिणाम होते हैं। किन्तु सातवेदनीयके उत्कृष्ट स्थितिबंधसे लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने संक्लिष्ट होते हैं कि उनसे असातवेदनीयका ही बन्ध हो सकता है। तथा छट्ठे गुणस्थानके अन्तमें असातवेदनीयकी बंधव्युच्छित्ति हो जानेसे

कारण उसके आगे विशुद्धिसे केवल सातवेदनीयका ही बंध होता है अत दोनोंके बीचमें ही इसप्रकारके परिणाम होते हैं जिनसे उनका जघन्य अनुभागबंध होता है। इसीलिये सातवेदनीय और असातवेदनीयके जघन्य अनुभागबंधका स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और स्थिर, शुभ और यश कीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोटीकोटी सागर बतलाई है। प्रमत्तमुनि अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिकी अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको बांधता है। फिर विशुद्धिकी वजहसे उनकी प्रतिपक्षी स्थिरादिक प्रकृतियोंका बंध करता है। उसके बाद पुन अस्थिरादिकका बंध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्टि,सास्वादन और मिथ्यादृष्टि जीव स्थिरादिकके बाद अस्थिरादिकका और अस्थिरादिकके बाद स्थिरादिकका बंध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियोंका उक्त प्रकारसे तबतक बंध करता है जबतक स्थिरादिकका उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके योग्य इन स्थितिबंधोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबंध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें स्थिरादिकके उत्कृष्ट स्थितिबंधके पश्चात् तो अस्थिरादिकका ही बंध होता है और अप्रमत्तादिक गुणस्थानोंमें स्थिरादिकका ही बंध होता है। पहलेमें संक्लेश परिणामोंकी अधिकता है और दूसरेमें विशुद्धपरिणामोंकी अधिकता है। अत दोनों ही में रसबंध अधिक मात्रामें होता है। इसलिये इन दोनोंके सिवाय ऊपर बतलाये गये शेष स्थानोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य रसबंध होता है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबंधके स्वामियोंका विवरण जानना चाहिये।

तस-वन्न-तेयचउ-मणु-खगइदुग-पणिंदि-सास-परघु-च्च ।
संघयणा-गिइ-नपु-त्थी-सुभगियरति मिच्छ चउगइया॥७३॥

अर्थ—त्रस आदिक चार, वर्ण आदिक चार, तैजस आदि चार, मनुष्यद्विक, दोनों विहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह संहनन, छह संस्थान, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सुभग आदि तीन और उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारोंगतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें त्रसचतुष्क आदि चवालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है। जिनमेंसे त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभवर्ण, शुभरस, शुभगन्ध, शुभस्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघात, इन पन्द्रह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके उत्कृष्ट संक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। ये प्रकृतियां शुभ हैं अत उत्कृष्ट संक्लेशसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। चारों गतिके मिथ्यादृष्टियोंमेंसे तिर्यञ्च और मनुष्य उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर नरकगतिके साथ उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् जिस समय उनके इतने संक्लिष्ट परिणाम होते हैं कि उनकी वजहसे वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं उसी समय उनके उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव संक्लेशके होनेपर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्यायके योग्य उक्त प्रकृतियोंको बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसको छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियोंको एकेन्द्रिय जातिके योग्य बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चपर्यायमें जन्म लेनेके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव एकेन्द्रिय पर्यायमें

जब उनके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रकृतियों-का जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनाम क्रमशः बन्ध इशान स्वर्गतकके देवोंके विशुद्ध दशामें ही होता है, अतः उनके इन दोनों प्रकृतियोंका जघन्य रसबन्ध नहीं होता। इसीसे इन दोनोंको छोड़ दिया है।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि ये प्रकृतियां अशुभ हैं। मनुष्यद्विक, छह संहनन, छह संस्थान, विहायोगतिका युगल, सुभग, सुस्वर, आदेय, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और उच्चगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके इनका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च और सम्यग्दृष्टि-मनुष्य देवद्विकका ही बन्ध करते हैं—मनुष्यादिद्विकका बन्ध नहीं करते, संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थानका ही बन्ध करते हैं। संहननका बन्ध ही नहीं करते हैं। तथा शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्चगोत्र का ही बन्ध करते हैं, उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदिका बन्ध नहीं करते। और सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक भी मनुष्यद्विकका ही बन्ध करते हैं—तिर्यञ्चद्विक वगैरहका बन्ध नहीं करते। संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थान का और संहननोंमेंसे वज्रऋषभनाराचसंहननका बन्ध करते हैं। विहायो-गति वगैरह भी शुभ ही बांधते हैं। अतः उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। और उनका बन्ध न होनेसे परिणामोंमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन न होनेसे परिणाम विशुद्ध बने रहते हैं अतः प्रशस्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है। इसीसे सम्यग्दृष्टिका ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई चवालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको जानना चाहिये।

१ कर्मकाण्डमें गा० १७० से १७७ तक जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियों को गिनाया है। जिसमें कर्मग्रन्थसे कोई अन्तर नहीं है।

जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें अनुभागबन्धके भङ्गोंका विचार करते हैं—

चउतेय-वन्न-वेयणिय-नामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसम्मि दुहा

अर्थ—तैजस आदि चार, वर्ण आदि चार, वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकारका होता है। शेष ध्रुवबन्धी प्रकृतियोंका और घातिकर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध भी सादि आदि चार प्रकारका होता है। गोत्रकर्मका अनुत्कृष्ट और अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेषबन्ध और शेषप्रकृतियोंके सभी बन्ध दो ही प्रकारके होते हैं।

भावार्थ—कर्मोंकी सबसे कम अनुभाग शक्तिको सर्वजघन्य कहते हैं, और सर्वजघन्य अनुभागशक्तिसे ऊपरके एक अविभागी अंशको आदि लेकर सबसे उत्कृष्ट अनुभाग तकके भेदोंको अजघन्य कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदमें अनुभागके अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं। तथा, सबसे अधिक अनुभाग शक्तिको उत्कृष्ट कहते हैं। और उसमेंसे एक अविभागी अंश कम शक्तिसे लेकर सर्वजघन्य अनुभाग तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदमें भी अनुभाग शक्तिके समस्त भेद गर्भित होजाते हैं। उदाहरणके लिये, यदि सर्वजघन्य अनुभागका प्रमाण ८ और सबसे उत्कृष्ट अनुभागका प्रमाण १६ कल्पना किया जाय, तो ८ को सर्वजघन्य कहेंगे और आठसे ऊपर नौसे लेकर १६ तकके भेदोंको अजघन्य कहेंगे। इसी तरह १६ को उत्कृष्ट कहेंगे और १६

---

१ पञ्चसङ्ग्रह गा० २७२-२७३ में भी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्धोंके विकल्प इसी प्रकार बताए हैं।

से एक कम १५ से लेकर ८ तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहेंगे ।

इस गाथामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें इन भेदोंका विचार उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भङ्गोंके साथ किया है। एकही गाथामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें विचार किया है, जो अक्रमबद्धसा जान पड़ता है। किन्तु संक्षेपमें वर्णन करनेके विचारसे ही ऐसा किया गया है। गाथामें बतलाये गये भेदोंका खुलासा निम्नप्रकार है—तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस और शुभस्पर्श, इन आठ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य तीस प्रकृतियोंके बन्धविच्छेदके समय होता है। इसके सिवाय अन्य स्थानोंमें, यहाँतक कि उपशमश्रेणिमें भी, उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध ही होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध बिल्कुल नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर जब कोई जीव उक्त प्रकृतियोंका पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहा जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेसे पहले उनका बन्ध अनादि कहाता है, क्योंकि उस जीवके वह बन्ध अनादिकालसे होता चला आता है। भव्य जीवका बन्ध अध्रुव और अभव्य जीवका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्कका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें बतला आये हैं। वह बन्ध इससे पहले नहीं होता है, अतः सादि है, और एक समयतक होकर आगे नहीं होता है, अतः अध्रुव है। ये प्रकृतियाँ शुभ हैं अतः इनका जघन्य अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवही करता है। और कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक दो समयके बाद वही जीव उनका अजघन्य अनुभागबन्ध करता

है। कालान्तरमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर वह उनका पुन जघन्य अनुभागबंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभागबंध भी सादि और अध्रुव ही होते हैं।

वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी चार प्रकारका होता है, जो इस प्रकार है—वेदनीय कर्मका साता और नामकर्मकी यशःकीर्ति प्रकृतिकी अपेक्षासे इन दोनों कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें उक्त दोनों कर्मोंकी उक्त दो ही प्रकृतियाँ बंधती हैं। इसके सिवाय अन्य सभी स्थानोंमें वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबंध होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बंध नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभागबंध होता है, वह सादि है। उससे पहले वह अनादि है। भव्य जीवका बंध अध्रुव और अभव्य जीवका बंध ध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्मके अनुत्कृष्ट अनुभागबंधके चार भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंधके दो ही विकल्प होते हैं, क्योंकि वेदनीय और नामकर्मका उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें बतला आये हैं। इससे पहले किसी भी गुणस्थानमें वह बंध नहीं होता है, अतः सादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानोंमें तो नियमसे नहीं होता है अतः अध्रुव है। तथा, इन कर्मोंका जघन्य अनुभागबंध मध्यम परिणामवाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभागबंध अजघन्यबंधके बाद होता है, अतः सादि है। तथा कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक चार समय तक जघन्यबंध होनेके पश्चात् पुनः अजघन्य बंध होता है, अतः जघन्य बंध अध्रुव है और अजघन्यबंध सादि है। उसके बाद उसी भवमें या किसी दूसरे भवमें पुनः जघन्यबंधके होनेपर अजघन्यबंध अध्रुव होता है इस प्रकार शेष तीनों बंध सादि और अध्रुव होते हैं।

तैजस चतुष्कके सिवाय शेष ध्रुवबन्धि प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। जो इस प्रकार है—पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायका जघन्य अनुभागबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें होता है। अन्य स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध ही होता है क्योंकि ये प्रकृतियां अशुभ हैं। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध ही नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुभागबन्ध होता है वह सादि है, उससे पहले वह बन्ध अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है। सज्वलन चतुष्कका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय होता है, क्योंकि यह अशुभ प्रकृति है। इसके सिवा अन्य सब जगह अजघन्यबन्ध होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता है, अतः वहाँ से च्युत होकर जो अजघन्यबन्ध होता है वह सादि है, इससे पहले अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला अशुभवर्ण, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श, उपघात, भय और जुगुप्साका क्षपक अपूर्वकरणमें अपने अपने बन्धविच्छेदके समयमें एक एक समय तक जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अन्य सब स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। उपशम श्रेणिमें बन्धव्युच्छित्ति करके वहाँ से गिरकर जब पुनः उन्हींका अजघन्य बन्ध होता है तो वह बन्ध सादि है। बन्धव्युच्छित्तिसे पहले उनका वह बन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमकी प्राप्तिके अभिमुख देशविरत अपने गुणस्थानके अन्तसमयमें करता है। उससे पहले उसका जो बन्ध होता है वह अजघन्यबन्ध है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध क्षायिक सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्त विशुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थानके

अन्त समयमें करता है। इसके सिवाय शेष सबने उसका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। स्त्यानर्द्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्तविशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें करता है। इसके सिवाय शेष सबके उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ये देशविरत वगैरह अपनी अपनी उक्त प्रकृतियोंके बन्धकाल अत्यन्तविशुद्ध होते हैं, इसलिये उन उन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। उसके बाद संयम वगैरहको प्राप्त करके, वहाँसे गिरकर जब पुन उनका अजघन्यानुभागबन्ध करते हैं तब यह बन्ध सादि होता है। उससे पहलेका अजघन्यबन्ध अनादि होता है। अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है और भव्यका बन्ध अध्रुव होता है। इस प्रकार तेतालीस ध्रुव प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके दो दो ही प्रकार होते हैं। जो इस प्रकार हैं—४३ प्रकृतियोंके अजघन्य अनुभागबन्धका विचार करते समय सूक्ष्मसाम्पराय आदि गुणस्थानोंमें उनका जघन्य अनुभागबन्ध बतला आये हैं। वह जघन्य अनुभागबन्ध उन उन गुणस्थानोंमें पहली बार होता है अत सादि है। बारहवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होता है अत अध्रुव है। तथा, इन तैंतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट सक्लेशवाला पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक अथवा दो समयतक करता है। उसके बाद पुन अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। कालान्तरमें उत्कृष्ट सक्लेशके होनेपर पुन उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धमें सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। इस प्रकार ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके अजघन्य आदि चारों भेदोंमें सादि वगैरह भङ्गों का विचार जानना चाहिये।

इसकारणसे सप्तम नरकके नारकका ही ग्रहण किया है, क्योंकि सातवें नरकमें मिथ्यात्वदशामें नीचगोत्रका ही बन्ध बतलाया है। तथा, जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वके अभिमुख नहीं हैं उसके नीचगोत्रका अजघन्य अनुभागबंध होता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उच्चगोत्रका अनघन्य अनुभागबन्ध होता है। अत सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। नीचगोत्रका यह जघन्य अनुभागबन्ध अन्यत्र सम्भव नहीं है और उसी अवस्थामें पहले पहल होता है, अत सादि है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर वही जीव उच्चगोत्रकी अपेक्षासे गोत्रकर्मका अजघन्य अनुभागबन्ध करता है, अत जघन्य अनुभागबंध अध्रुव है और अजघन्य अनुभागबंध सादि है। इससे पहले जो अजघन्य अनुभागबंध होता है वह अनादि है। अभव्यका अजघन्यबन्ध ध्रुव है और भव्यका अजघन्यबन्ध अध्रुव है। इसप्रकार गोत्रकर्मके जघन्य अनुभागबंधके दो और अजघन्य अनुभागबंधके चार विकल्प होते हैं।

तथा, अवशिष्ट आयुकर्मके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबंधके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं, क्योंकि भुज्यमान आयुके त्रिभाग वगैरह नियतकालमें ही आयुकर्मका बंध होता है अत उसका जघन्यादि रूप अनुभागबंध भी सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद वह बंध अवश्य रुक जाता है, अत बंधके अध्रुव होनेके कारण उसका

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धके जघन्य अजघन्य आदि प्रकारोंमें सादि वगैरहका विचार दो गाथाओंमें किया है-एकमें मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षासे और दूसरीमें उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षासे। किन्तु कर्मग्रन्थसे उसमें कोई अन्तर नहीं है। देखो-गा० १७८ १७९।

कर्मप्रकृतिके बन्धप्ररूपणा नामक अधिकारकी ६७ वीं गाथाकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें भी अनुभागबन्धमें सादि अनादि भंगोंका विवेचन किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी अध्रुव ही होता है। साराश यह है कि जब आयुकर्मका बध ही सादि और अध्रुव होता है,तब उसोके भेद जघन्यादि अनुभागबन्ध ता सादि और अध्रुव होने ही चाहियें। इसप्रकार अनुभागबन्धकी अपेक्षासे मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंमें भङ्गोका विचार जानना चाहिये।

२० प्रदेशबन्धद्वार

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं।(पुद्गलके एक परमाणुको एक प्रदेश कहते हैं। अत जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, परमाणुके द्वारा उन पुद्गलस्कन्धोंका परिमाण आँका जाता है कि अमुक समयमें इतने परमाणुवाले पुद्गलस्कन्ध अमुक जीवके कर्मरूप परिणत हुए हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं)। जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, उन्हे कर्मवर्गणास्कन्ध कहते हैं। बात यह है कि यह लोक पुद्गलकायसे खूब ठसाठस भरा हुआ है, और वह पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। उन्हीं अनेक वर्गणाओंमसे एक कर्मवर्गणा भी है। ये कर्मवर्गणाएँ ही जीवके योग और कषायरूप भावोका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती हैं। अत प्रदेशबन्धका स्वरूप समझानेके लिये कर्मवर्गणाका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। किन्तु कर्मवर्गणाका स्वरूप तभी जाना जासकता है जब उसके पूर्वकी औदारिक आदि वर्गणाओका भी स्वरूप बतलाया जावे, अत बाकीकी वर्गणाओंका स्वरूप भी कहना ही चाहिये। वे शेष औदारिक आदि वर्गणाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक ग्रहणयोग्य और एक अग्रहणयोग्य। अत अग्रहण वर्गणाको आदि लेकर कर्मवर्गणा पर्यन्त वर्गणाओंका निरूपण करते हैं—

इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

अर्थ–एकाणुक, द्व्यणुक आदिको लेकर एक एक परमाणुकी वृद्धि होते होते अभव्यराशिसे अनन्तगुणे परमाणुओंसे जो स्कन्ध तैयार होते हैं, वे औदारिक शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणाएँ होती हैं। उन ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ निष्पन्न होती हैं। ग्रहणवर्गणा अग्रहणवर्गणासे अन्तरित है। अर्थात् ग्रहणवर्गणाके बाद अग्रहणवर्गणा और अग्रहण वर्गणाके बाद ग्रहणवर्गणा आती है।

भावार्थ–(समानजातीय पुद्गलोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।)[1] जैसे समस्त लोकाकाशमें जो कुछ एकाकी परमाणु पाये जाते हैं उन्हें पहली वर्गणा कहते हैं। दो परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें दूसरी वर्गणा कहते हैं। तीन परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें तीसरी वर्गणा कहते हैं। इसप्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते संख्यातप्रदेशी स्कन्धोंकी संख्याताणु वर्गणा, असंख्यातप्रदेशी स्कन्धोंकी असंख्याताणुवर्गणा, अनन्तप्रदेशी स्कन्धोंकी अनन्ताणुवर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धोंकी अनन्तानन्ताणुवर्गणा जानना चाहिये। ये सभी वर्गणाएँ अल्प परमाणुवाली होनेके कारण जीवके द्वारा ग्रहण नहीं की जातीं, इसलिये इन्हें अग्रहण

---

1 एगा परमाणूणं एगुत्तरवड्ढिया तओ कमसो ।
संखेज्जपएसाणं संखेज्जा वग्गणा होंति ॥ ६३६ ॥
तत्तो असंखाइआ असंखाइयप्पएसमाणाणं ।
तत्तो पुणो अणंताणंतपएसाण गंतूणं ॥ ६३७ ॥
ओरालियस्स गहणप्पाओग्गा वग्गणा अणंताओ ।
अग्गहणप्पाओग्गा तस्सेव तओ अणंताओ ॥ ६३८ ॥
एवमजोग्गा जोग्गा पुणो अजोग्गा य वग्गणाणंता ।" विशे० भा० ।

वर्गणा कहते हैं। किन्तु अभव्यजीवोंकी राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध जीवोंकी राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनते हैं, अर्थात् जिन स्कन्धोंमें इतने इतने परमाणु होते हैं, वे स्कन्ध जीवके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर-रूप परिणमाता है। इसलिये उन स्कन्धोंको औदारिक वर्गणा कहते हैं। किन्तु औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणाओंमें यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, इसके ऊपर एक एक परमाणु बढते स्कन्धोंकी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवीं आदि अनन्त वर्गणाए औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अत औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक परमाणुवाली औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवें भागमें अनन्त परमाणु होते हैं, अत जघन्य वर्गणासे लेकर उत्कृष्ट वर्गणापर्यन्त अनन्त वर्गणाए औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जाननी चाहियें।

औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणासे ऊपर एक एक परमाणु बढते स्कन्धोंकी जो वर्गणाए होती हैं, वे वर्गणाए एक तो औदारिक शरीरकी अपेक्षासे अधिक प्रदेशवाली होती है, दूसरे सूक्ष्म भी होती हैं, अत औदारिकके ग्रहण योग्य नहीं होतीं। तथा जिन स्कन्धोंसे वैक्रिय शरीर बनता है उन स्कन्धोंकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अत वैक्रिय-शरीरके भी ग्रहणयोग्य नहीं होता। इसप्रकार औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणाके ऊपर एक एक परमाणु बढते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाए अग्रहण योग्य होती हैं। जैसे, औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसकी उत्कृष्टवर्गणा अनन्तवें भाग अधिक है। उसीप्रकार अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणासे अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी (अनन्तगुणे अधिक परमाणुवाली) जाननी चाहिये। इस गुणाकारका प्रमाण अभव्यराशिसे अनन्तगुणा और सिद्धराशिका अनन्तवाभाग है। इस उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य

वर्गणाके ऊपर पुनः ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है जिसका वर्णन आगेकी गाथामें किया जायगा। इसप्रकार ग्रहणयोग्य वर्गणाएं अग्रहणयोग्य वर्गणाओंसे अन्तरित हैं। अर्थात् ग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद अग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद ग्रहणयोग्य वर्गणा आती है।

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाण-मण कम्मे।
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणगुलअसंखंसो॥ ७६॥

अर्थ—औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणा की ही तरह वैक्रिय शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसशरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषा प्रायोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, श्वासोच्छ्वास ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं। ये वर्गणाएं क्रमसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून न्यून अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—इससे पहली गाथामें औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा का और उसके अग्रहणयोग्य वर्गणाका स्वरूप बतला आये हैं। यहां उसके बादकी कुछ वर्गणाओंका निर्देश करके उनका स्वरूप भी पूर्व वर्गणाओंकी ही तरह बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

औदारिक शरीरके अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे एक अधिक परमाणु जिन स्कन्धोंमें पाये जाते हैं उन

---

१ पञ्चसंग्रह की निम्नगाथासे तुलना कीजिये—
ओरालविउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्जासओ खेत्ते॥१५॥ (बन्धन करण)
आवश्यकनिर्युक्तिमें भी यह गाथा मौजूद है, गा० नं० ३९ है।

स्कन्धोंका समूहरूप वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंसे एक अधिक प्रदेश जिस जिस स्कन्धमें पाया जाता है उनका समूहरूप दूसरी वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इसीप्रकार एक एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएं वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसके अनन्तवभाग अधिक वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह वैक्रियशरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती है, और आहारकशरीरकी अपेक्षासे कम प्रदेशवाली और स्थूल होती है। अतः वह न तो वैक्रियशरीरके कामकी होती है और न आहारक शरीरके कामकी होती है, इसलिये उसे अग्रहणयोग्य वर्गणा कहते हैं। यह जघन्य वर्गणा है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएँ अग्रहणयोग्य हैं। अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशोंकी वृद्धि होनेपर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार ये अनन्तवर्गणाएँ आहारक शरीरकी अपेक्षासे बहुप्रदेशवाली और सूक्ष्म हैं, तथा तैजस शरीरकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा तैजस शरीरके प्रायोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते तैजसशरीरप्रायोग्य

जघन्य वर्गणाके अनन्तवभाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

तैजस शरीरके ग्रहण योग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणासे अनन्तगुण अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तैजस शरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती हैं और भाषाकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है वह भाषाप्रायोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तवभाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी भाषाप्रायोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणाएं भाषाके ग्रहणयोग्य होती हैं।

भाषाके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धोंकी श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धोंके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती

है। जघन्य वर्गणाके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढते जघन्य वर्गणाके स्कंधके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है।

मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कंधोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके स्कंधके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कंधोंकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस उत्कृष्ट वर्गणाके स्कंधके प्रदेशोंसे एक प्रदेश अधिक स्कंधोंकी वर्गणा कर्मग्रहणके योग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कंधोंकी कर्मग्रहणके योग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। सारांश यह है, कि सजातीय पुद्गल स्कंधोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। अतः जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके एक स्कंधमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणाके एक स्कंधमें होते हैं। और जघन्य ग्रहणयोग्य एक वर्गणाके स्कंधमें जितने परमाणु होते हैं, उनके अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धोंमें होते हैं।

इस प्रकार आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहण योग्य होती हैं। इन सोलह वर्गणाओंमेंसे प्रत्येकके जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते हैं, और जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त अनन्त मध्यम विकल्प होते हैं। ग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तवें भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तगुणा होता है। ग्रहण योग्य वर्गणाएं आठ बतलाई हैं—औदारिकके ग्रहणयोग्य, वैक्रियके ग्रहणयोग्य, आहारकके ग्रहणयोग्य, तैजसके ग्रहणयोग्य, भाषाके ग्रहणयोग्य, श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य, मनके ग्रहणयोग्य और कर्मके ग्रहणयोग्य। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं। जिन पुद्गलवर्गणाओंसे यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ औदारिकके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं।

देव और नारकोंके शरीरको वैक्रिय कहते हैं। जिन वर्गणाओंसे यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ वैक्रियके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। जो शरीर चौदह पूर्वके पाठी मुनिके द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जो शरीर भुक्त अन्नके पाचनमें हेतु और दीप्तिका निमित्त हो उसे तैजस शरीर कहते हैं। बातचीतको भाषा कहते हैं। बाहरकी वायुको शरीरके अन्दर ले जाना और अन्दरकी वायुको बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। विचार करनेके साधनको मन कहते हैं। कर्मोंके पिण्डको कार्मणशरीर कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय अध्यायमें शरीरोंका वर्णन करते हुए उन्हें उत्तरोत्तर सूक्ष्म[1] बतलाया है। अर्थात् औदारिकसे वैक्रिय सूक्ष्म होता है, वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण सूक्ष्म होता है। ये शरीर यद्यपि उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं तथापि उनके निर्माणमें अधिक अधिक परमाणुओंका उपयोग होता है। सारांश यह है कि जैसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर और लोहा अमुक परिमाणमें लेनेपर भी रुईसे लकड़ीका आकार छोटा होगा, लकड़ीसे मिट्टीका आकार छोटा होगा, मिट्टीसे पत्थरका और पत्थरसे लोहेका। किन्तु आकारमें छोटे होनेपर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती हैं, इसी तरह औदारिक वगैरह शरीरोंके बारेमें भी समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि औदारिक शरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है, वे रुई की तरह अल्प परमाणुवाली किन्तु आकारमें स्थूल हैं, और वैक्रियशरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है वे लकड़ीकी तरह औदारिक योग्य वर्गणाओंसे अधिक परमाणुवाली किन्तु अल्प परिमाणवाली हैं। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। सारांश यह है कि आगे आगेकी वर्गणाओंमें परमाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है, किन्तु उनका आकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता जाता है। इसीसे ग्रन्थकारने उक्त गाथाके उत्तरार्धमें लिखा है कि ये वर्ग-

[1] 'परम्परं सूक्ष्मम्।' २-३८॥

णाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता है और इनकी अवगाहना अर्थात् लम्बाई चौ-
ड़ाई वगैरह सामान्यसे अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, किन्तु वह
अंगुलका असंख्यातवाँ भाग उत्तरोत्तर हीन हीन है। आशय यह है कि
ज्यों ज्यों अधिक परिमाणुओंका संघात होता है त्यों त्यों उनका सूक्ष्म
सूक्ष्मतर रूप परिणाम होता है। अत औदारिकवर्गणाओंकी अवगा-
हना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, तथा उसकी अग्रहण वर्गणाओंकी
भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु वह अंगुलका
असंख्यातवा भाग पहलेसे न्यून है। इसी प्रकार वैक्रियग्रहणवर्गणाओंकी
भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवे भाग है, किन्तु वह असंख्यातवाँ भाग
औदारिककी अग्रहण योग्य वर्गणाओंकी अवगाहनावाले अंगुलके असंख्या-
तवें भागसे भी न्यून है, इसी प्रकार आगे भी अंगुलका असंख्यातवाँ भाग
न्यून न्यून समझना चाहिये। इस न्यूनताकी वजहसे ही अल्प परमाणुवाले
औदारिक शरीरके दिखाई देनेपर भी उसके ही साथ बसनेवाले तैजस और
कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणुवाले होने पर भी दिखाई नहीं देते।

तैजस और कार्मण शरीरके मध्यमें भाषा, श्वासोछ्वास और मन पड़े
हुए हैं। अर्थात् तैजस शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणासे वे वर्गणा अधिक सूक्ष्म
हैं जो हमारे बातचीत करते समय शब्दरूप परिणत होती हैं। और उनसे
भी वे वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं, जो जीवके श्वासरूप परिणत होती हैं।
इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कर्मवर्गणाएँ कितनी अधिक सूक्ष्म
होती हैं, किन्तु उनमें परमाणुओंकी संख्या कितनी अधिक रहती है। यहाँ
इन वर्गणाओंके कथन करनेका यही उद्देश है कि जो चीज कर्मरूप परि-

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें औदारिकवर्गणा, वैक्रियवर्गणा और आहा-
रकवर्गणाके स्थानमें केवल एक आहारवर्गणा ही बतलाई है। तथा श्वासो
छ्वास वर्गणाका भी ग्रहण नहीं किया है। कर्मप्रकृतिमें भी ऐसा ही मिलता
है। किन्तु यहाँ 'आहारगवग्गणातितणु' लिखकर तीनों शरीरोंका स्पष्ट

णत होती है उसके स्वरूपकी रूपरेखा दृष्टिमें आजाय। इसासे यहां केवल १६ वर्गणाओंका ही स्वरूप बतलाया है।

उल्लेख करदिया है। तथा मूलमें श्वासोच्छ्वासवर्गणाका ग्रहण नहीं किया है किन्तु चूर्णिकार ने उसका ग्रहण किया है। तुलनाके लिये दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं–

"अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥ ५९३ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥ ५९४ ॥'
जीवकाण्ड

"परमाणुसंखऽसंखाऽणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो आहारगवग्गणा तितणू ॥ १८ ॥
अग्गहणंतरियाओ तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअंतरेसुप्पिं ॥ १९ ॥
पत्तेयगतणुसु बायरसुहुमनिगोए तहा महक्खंधे।
गुणनिप्फन्नसनामा असंखभागंगुलवगाहो ॥ २० ॥"
कर्मप्रकृति (बंधनकरण)

१ पञ्चसङ्ग्रहमें वर्गणाओंका निरूपण कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है। वहां १६ वर्गणाओंसे आगेकी वर्गणाओंको इसप्रकार बतलाया है–

कम्मोवरिं धुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णबायरिया।
सुण्णा सुहुमा सुण्णा महक्खंधो सगुणनामाओ ॥१६॥ बन्धनकरण

अर्थात्–'कर्मवर्गणासे ऊपर ध्रुववर्गणा अध्रुववर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येक शरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा सूक्ष्मनिगोदवर्गणा शून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा होती हैं। कर्मप्रकृति और जीवकाण्डमें भी मामूलीसे नाम भेदके साथ यही वर्गणाएं कही हैं।

वर्गणाओंका स्वरूप तथा उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाकर, अब अग्रहण वर्गणाओंके परिमाणका कथन करते हैं—

इक्किकहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

अर्थ—उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ होती हैं। उनका परिमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है। और वे औदारिक वैक्रिय आदि वर्गणाओंके मध्यमें पाई जाती हैं। औदारिक आदि सभी वर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने योग्य जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इससे पूर्वकी गाथामें ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके नाम और उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाया था। तथा, यह भी लिखा था कि ग्रहण योग्य वर्गणाएँ अग्रहण वर्गणाओंसे अन्तरित होती हैं। यहां अग्रहण वर्गणाओंका प्रमाण तथा ग्रहण वर्गणाओंके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंका अन्तर बतलाया है। वर्गणाओंका स्वरूप बतलाते हुए यद्यपि इन सभी बातोंका खुलासा कर दिया गया है, तथापि प्रसङ्गवश यहाँ संक्षेपसे उन्हें पुनः कहते हैं—

पहले लिख आये हैं कि सजातीय पुद्गलस्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणाके प्रत्येक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उनसे एक अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य जघन्य-वर्गणा जानना चाहिये, दो अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य दूसरी वर्गणा जानना चाहिये, तीन अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहणयोग्य तीसरी वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते स्कन्धोंकी चौथी पाँचवी आदि अग्रहण योग्य वर्गणाएँ जाननी चाहियें। अग्रहण योग्य जघन्यवर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु

हो, उनका सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहको अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अतः प्रत्येक अग्रहण योग्य वर्गणाको संख्या सिद्धराशिके अनन्तवें भाग बतलाई है, क्योंकि जघन्य अग्रहण वर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उन्हें सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जितने परमाणु आते हैं, जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त वर्गणाके उतने ही विकल्प होते हैं।

ये अग्रहण वर्गणाएँ ग्रहण वर्गणाओंके मध्यमें होती हैं, अर्थात् अग्रहण वर्गणा, औदारिकवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, वैक्रियवर्गणा इत्यादि। ऊपर जो अग्रहणवर्गणाके अनन्त भेद बतलाये हैं, वे प्रत्येक अग्रहणवर्गणाके जानने चाहिये। अर्थात् यह न समझ लेना चाहिये कि कुल अग्रहणवर्गणाएँ सिद्धराशिके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और उनमें कुछ वर्गणाएँ औदारिक वर्गणासे पहले होती हैं, कुछ उसके बाद होती हैं, कुछ वैक्रियवर्गणाके बाद होती हैं। किन्तु ग्रहणवर्गणाओंके अन्तरालमें जो आठ अग्रहणवर्गणाएँ बतलाई हैं उनमेंसे प्रत्येकके भेदोंका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है।

जैसे, अग्रहण वर्गणाओंकी उत्कृष्ट अपनी अपनी जघन्यसे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है, उसी तरह ग्रहणवर्गणाओंकी उत्कृष्ट अपनी अपनी जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक है। अर्थात् जघन्य ग्रहण योग्य स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उससे अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहण योग्य स्कन्धमें होते हैं।

सारांश यह है कि पहले पहलेकी उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धमें एक एक प्रदेश बढ़ानेपर आगे आगेकी जघन्यवर्गणाका प्रमाण आता है। अग्राह्य वर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है। तथा ग्राह्यवर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे अनन्तवें

---

१ टबेमें लिखा है कि बृहत्शतककी वृत्तिमें अग्रहणवर्गणाओंको नहीं बतलाया है।

भाग अधिक है।

अब जीव जिस प्रकारके कर्मस्कन्धको ग्रहण करता है उसे बतलाते हैं—

अतिमचउफासदुगंधपचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिउ ।

अर्थ—अन्तके चार स्पर्श, दो गन्ध, पाँच वर्ण और पाँच रस वाले, सब जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक, अनन्त प्रदेशी उन कर्मस्कन्धोंको जीव अपने सब प्रदेशोंसे ग्रहण करता है, जो (कर्मस्कन्ध) उन्हीं आकाशके प्रदेशोंमें वर्तमान हैं, जिनमें जीव स्वयं वर्तमान है।

भावार्थ—(कर्मस्कन्धोंके समूहको कर्मवर्गणा कहते हैं।) अतः कर्मवर्गणा-का स्वरूप बतला कर ग्रन्थकारने कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाया है। उक्त डेढ़ गाथामेंसे पूरी गाथा तो कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाती है और बादकी आधी गाथा दो प्रश्नोंका उत्तर देती है १—किस क्षेत्रमें रहनेवाले कर्मस्कन्धों-को जीव ग्रहण करता है और २—किसके द्वारा ग्रहण करता है?

वर्गणाओंका निरूपण करते हुए यह बतला आये हैं, कि ये वर्गणाएँ पौद्गलिकी हैं। अर्थात् पुद्गल परमाणुओंका ही समुदाय विशेष हैं। अतः कर्म वर्गणाएँ भी पौद्गलिकी ही जाननी चाहियें। हम अपनी आँखोंसे जो वस्तुएँ देखते हैं, जिह्वासे जिन वस्तुओंको चखते हैं, नाकसे जिन वस्तुओं-को सूंघते हैं, शरीरसे जिन्हें छूते हैं और कानोंसे जो कुछ सुनते हैं वे सब और उनके उपादान कारण पौद्गलिक कहे जाते हैं। इसीसे पुद्गल द्रव्य-का लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श बतलाया है[१]। अर्थात् जिसमें ये चारों गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं। कर्मवर्गणा कर्मस्कन्धोंके समूहका नाम है और कर्मस्कन्ध पुद्गलपरमाणुओंके ही बन्धन विशेषको कहते हैं।

१ "स्पर्श रस गन्ध वर्ण वन्त: पुद्गलाः ।" ५ २३ तत्वार्थसूत्र।

(जिस तरह पुद्गलद्रव्यके सबसे छोटे अंशको परमाणु कहते हैं,) उसी तरह शक्तिके सबसे छोटे अंशको रसाणु कहते हैं।) यहां रसका मतलब खट्टे मीठे आदि पांच प्रकारके रससे नहीं है किन्तु अनुभाग बंध अथवा रसबंधका वर्णन करते हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलमें जो मधुर और कटुक ऐसा व्यवहार किया था, उस रससे है। यह रस प्रत्येक पुद्गल में पाया जाता है। जैसे पुद्गलद्रव्यके स्कन्धके टुकड़े किये जा सकते हैं, वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणके टुकड़े नहीं किये जा सकते। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओंमें गुणकी हीनाधिकताका सहज में ही जान लेते हैं। जैसे, यदि हमारे सामने भैंस, गाय और बकरीका दूध रखा जाय तो हम उसकी परीक्षा करके तुरंत कह देते हैं कि इस दूधमें चिकनाई अधिक है और इसमें कम है। चिकनाई के टुकड़े नहीं किये जा सकते, क्योंकि यह एक गुण है। किन्तु, विभिन्न वस्तुओंके द्वारा हम उसकी तरतमता को जान सकते हैं। यह तरतमता ही इस बातको बतलाती है कि गुणके भी अंश होते हैं। आजकलके वैज्ञानिक यह खोजा करते हैं कि किस भोज्य वस्तुमें अधिक जीवनदायक शक्ति है और किसमें कम। उनकी ये खोजें कभी कभी समाचारपत्रों में भी पढ़ने को मिल जाती हैं। उनकी तालिकामें लिखा रहता है कि बादाममें प्रतिग्रान इतनी जीवनी शक्ति

बतलाते हुए लिखा है–

'बादरमट्ठस्पर्शं द्रव्यं रूप्यंव भवति गुरुलघुकम्।
अगुरुलघु चतुःस्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्तमपि ॥ २४ ॥'

अर्थात्–'आठ स्पर्शवाला बादररूपी द्रव्य गुरुलघु होता है, और चार स्पर्शवाला सूक्ष्मरूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते हैं।' इसके अनुसार तैजस वर्गणामें आठों स्पर्श सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसे गुरुलघु बतलाया है। किन्तु कर्मवर्गणामें चार स्पर्श होते हैं इसमें सभीका ऐकमत्य है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी कर्मयोग्य द्रव्यको चार स्पर्शवाला ही बतलाया है।

है, दूधमें इतनी है इत्यादि। विभिन्न रसों में यह जो जीवनी शक्ति अमुक अमुक अंशमें मौजूद है, यह सिद्ध करती है कि शक्तिके भी अंश हो सकते हैं। इन्हें ही रसके अंश भी कहते हैं, क्यों कि रस शब्दसे भी भी फलदायक शक्ति का बोध है। (ये रस के अंश ही रसाणु कहे जाते हैं।) सबसे जघन्य रसवाले पुद्गलद्रव्यमें भी जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते हैं। अतः कर्मस्कन्ध भी सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणुओंसे युक्त होता है। ये रसाणु ही जीवके भावों का निमित्त पाकर कटुक रूप अथवा मधुर रूप फल देते हैं। तथा, एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है अर्थात् एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त परमाणुओंका समूह होता है, जैसा कि वर्गणाओंके निरूपणसे स्पष्ट है। इस प्रकार जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य कर्मस्कन्धों का स्वरूप जानना चाहिये।

---

१ रसाणुको गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं, जैसा कि पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

"पञ्चण्ह सरीराणं परमाणूण मईए अविभागो।

कप्पियगाणेगसो गुणाणु भावाणु वा होंति॥ ४१७॥"

अर्थात्–पाँच शरीरोंके योग्य परमाणुओंकी रस शक्तिका बुद्धिके द्वारा खण्ड करनेपर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं। और भी–

"जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोगपरिमाणा।

सव्वजियाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू॥ ४३६॥"

अर्थात्–अनुभागके कारण जीवके कषायोदय रूप परिणाम दो तरहके होते हैं–एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं। एक एक परिणामके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलोंमें सर्वजीवोंसे अनन्तगुणे भावाणु होते हैं।

प्रदेशबंधद्वारके प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि समस्त लोक पुद्गल द्रव्यसे ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। जब पुद्गलद्रव्य वर्गणाओंमें विभाजित है और सब जगह पाया जाता है, तो इसका यही मतलब हुआ कि पुद्गलद्रव्य की उक्त वर्गणाएँ समस्तलोकमें पाई जाती हैं। उक्त वर्गणाओंमें ही कर्मवर्गणा भी है अतः कर्मवर्गणा भी सब जगह पाई जाती है। किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है, जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं। जैसे आगमें तपाये हुए लोहेके गोलेको पानीमें डाल देने पर वह उसी जलको

१ कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए लिखा है–

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।

बंधदि सगहेदूहिं य अणादियं सादियं उभयं ॥ १८५ ॥'

अर्थात्–एक अभिन्न क्षेत्रमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य अनादि, सादि और उभयरूप अर्थात् अनादि सादिरूप द्रव्यको यह जीव अपने सब प्रदेशोंसे कारण कलापके मिलनेपर बांधता है। और भी–

'सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं ।

सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥ १९१ ॥'

अर्थात्–जीव जिस कर्मरूप पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है उसमें पांचों रस, पांचों रूप दोनों गन्ध और अन्तके चार स्पर्श होते हैं। तथा, उसका परिमाण सिद्धराशिका अनन्तवाँ भाग अथवा अभव्यराशिसे अनन्तगुणा होता है।

पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है–

'एगपएसोगाढे सव्वपएसेहिं कम्मणो जोगे ।

जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥२८४॥'

अर्थात्–एक क्षेत्रमें स्थित, कर्मरूप होने के योग्य सादि अथवा अनादि पुद्गल द्रव्यको जीव अपने समस्त प्रदेशोंसे ग्रहण करता है।

ग्रहण करता है, जो उसके गिरनेके स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर का जल ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जीव भी जिन आकाश प्रदेशोंमें स्थित होता है, उन्हीं आकाश प्रदेशोंमें रहने वाली कर्मवर्गणाको ग्रहण करता है। तथा जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला जलमें गिरने पर चारों ओरसे पानीको खींचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्म प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि आत्माके अमुक हिस्सेसे ही कर्मोंका ग्रहण करता हो, किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार वे कर्मस्कन्ध कैसे हैं और जीव उन्हें कैसे ग्रहण करता है इन पर विचार किया गया।

इस प्रकार ग्रहणकिये हुए कर्मस्कन्धोंका आठों कर्मोंमें जिस क्रमसे विभाग होता है, उसे बतलाते हैं—

थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिउ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवई ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

अर्थ—आयुकर्म का हिस्सा थोड़ा है, नाम और गोत्रकर्म का हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु आयुकर्मके हिस्से से अधिक है। इसी तरह अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु नाम और गोत्रकर्मके हिस्सेसे अधिक है। उससे अधिक मोहनीयका

---

१ पञ्चसंग्रहमें लिखा है—

"कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्तं जओणप्पे ॥२८५॥"

अर्थात्—अधिक स्थितिवाले कर्मोंका भाग क्रमसे अधिक होता है। किन्तु वेदनीयका भाग सबसे ज्येष्ठ होता है, क्योंकि अल्पदल होनेपर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता।

भाग है। और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका भाग है, क्योंकि थोड़े द्रव्यके होने पर वेदनीयकर्मका अनुभव स्पष्टरीतिसे नहीं हो सकता है। वेदनीयके सिवाय शेष सातकर्मोंको अपनी अपनी स्थितिके अनुसार भाग मिलता है। अर्थात् जिस कर्मकी अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्मकी हीन स्थिति है उसे हीन भाग मिलता है।

भावार्थ–जिस प्रकार भोजन उदरमें जानेके बाद कालक्रमसे रस रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय जिन कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है, वे कर्मवर्गणाएँ उसी समय उतने हिस्सोंमें बट जाती हैं, जितने कर्मोंका बन्ध उस समय उस जीवके होता है। पहले लिख आये हैं कि आयुकर्मका बन्ध सर्वदा नहीं होता, और जब होता है तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता। अतः जिस समय जीव आयुकर्मका बन्ध करता है उस समय जो कर्मदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं। जिस समय आयुकर्मका बन्ध नहीं करता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उनका बटवारा आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंमें होजाता है। जब दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह कर्मोंका बन्ध करता है, उस समय गृहीत कर्मदलके ६ भाग हो जाते हैं। और जिस समय एक कर्मका ही बन्ध करता है उस समय ग्रहण किये हुए कर्मदल उस एक कर्मरूप ही हो जाते हैं। यहां ग्रहण किये हुए कर्मदलका आठों कर्मोंमें विभाजित होनेका क्रम बतलाया है। आयुकर्मको भाग सबसे थोड़ा है, क्योंकि दूसरे कर्मोंसे उसकी स्थिति थोड़ी है। आयुकर्मसे नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मोंका भाग अधिक है, क्योंकि आयुकर्मकी स्थिति तेतीस सागर है और नाम तथा गोत्रकर्मकी स्थिति बीस कोटी कोटी सागर है। नाम और गोत्रकी स्थिति समान है, अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर बराबर ही मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी स्थिति तीस कोटी कोटी सागर है

अत नाम और गोत्रकमसे इन तीना कर्मोका भाग अधिक है। तथा इन तीना कर्मो की स्थिति समान है, अत उनका भाग भी बराबर बराबर ही है। इन तीनों कर्मोंसे मोहनीयकमका भाग अधिक है क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर है। और वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक है। यद्यपि मोहनीय कमकी स्थितिसे वेदनीय कर्मकी स्थिति बहुत कम है, तथापि मोहनीयके भागसे वेदनीय कर्मका भाग अधिक है। क्योंकि बहुत द्रव्यके बिना वेदनीयकर्मके सुख दु खादिका अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। वेदनीयको अधिक पुद्गल मिलनेपर ही वह अपना काय करनेमें समय होता है। थोड़े दल होनेपर वेदनीय प्रकट ही नहीं होता। इसीसे थोड़ी स्थितिके होनेपर भी उसे सबसे अधिक भाग मिलता है।

---

१ वेदनीयकर्मको सबसे अधिक भाग मिलनेके बारेमें कर्मकाण्डमें लिखा है–

'सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुग दव्व होदित्ति णिद्दिट्ठ ॥ १९३ ॥'

अर्थात्–सुख और दु खके निमित्तसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दु खका वेदन करता रहता है, अत वेदनीय कर्मका उदय प्रतिक्षण होनेसे उसकी निजरा भी अधिक होती है। इसीसे उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है, ऐसा कहा है।

२ कर्मग्रन्थमें केवल विभागका क्रम ही बतलाया है, और उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्मको अधिक भाग मिलता है और अमुकको कम भाग मिलता है। किन्तु कर्मकाण्डमें इस क्रमके साथ ही साथ विभागकी रीति भी बतलाई है, जो इस प्रकार है–

'बहुभागे समभागो अट्ठण्ह होदि एक्कभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५ ॥'

अर्थात्–बहुभागके समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुन बहुभाग करना चाहिये, और वह बहु-

भाग बहुत हिस्सेवाले कर्मको देना चाहिये।

इस रीतिके अनुसार एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है, उसमें आवलीके असख्यातवें भागसे भाग देकर एक भागको जुदा रखना चाहिये और बहुभागके आठ समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रखकर बहुभाग वेदनीय कर्मको देना चाहिये, क्योंकि सबसे अधिक भागका वही स्वामी है। शेष एक भागमें पुन आवली के असख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग मोह नीयकर्मको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके दो समान भाग करके, नाम और गोत्रकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग आयुकर्मको देना चाहिये। इस प्रकार पहले बटवारेमें और दूसरे बटवारेमें प्राप्त अपने अपने द्रव्यका सकलन करने से अपने अपने भागका परिमाण आता है। अर्थात् ग्रहण किये हुए द्रव्यमें से इतने इतने परमाणु उस उस कर्मरूप हो जाते हैं।

अङ्कसदृष्टिसे इसे समझनेके लिये कल्पना कीजिये-कि एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है उसका परिमाण २५६०० है, और आवलीके असख्यातवें भागका प्रमाण ४ है। अत २५६०० को ४ से भाग देनेपर लब्ध ६४०० आता है। यह एक भाग है। इस एक भागको २५६०० में से घटानेपर १९२०० बहुभाग आता है। इस बहुभागके आठ समान भाग करनेपर एक एक भागका प्रमाण २४००, २४०० होता है। अत प्रत्येक कर्मके हिस्सेमें २४००, २४०० द्रव्य आता है। शेष एक भाग ६४०० को

मूल प्रकृतियोंमें विभागका क्रम बतलाकर, अब उत्तर प्रकृतियोंमें उसका क्रम बतलाते हैं—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

---

४ से भाग देनेपर लब्ध १६०० आता है। इस सोलह सौ को ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग आता है। यह बहुभाग वेदनीयकर्मका है। शेष १६०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध ४०० आता है। १६०० में से ४०० को घटानेपर बहुभाग १२०० आता है। यह बहुभाग मोहनीयकर्मका है। शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध १०० आता है। ४०० में से १०० को घटानेपर बहुभाग ३०० आता है। बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायको १०० १०० दे देना चाहिये। शेष १०० में ४ का भाग देनेसे लब्ध २५ आता है। १०० में से २५ को घटानेपर बहुभाग ७५ आता है। यह बहुभाग नाम और गोत्रकर्मका है। शेष एक भाग २५ आयुकर्मको दे देना चाहिये। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००	३७½	३७½	२५
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००	२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० में इतना इतना द्रव्य उस उस कर्मरूप परिणत होता है। यह अङ्कसदृष्टि केवल विभागकी रूपरेखा समझानेके लिये है। इसे वास्तविक न समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऐसा न समझ लेना चाहिये कि जैसे इसमें वेदनीयका द्रव्य मोहनीयसे ठीक दुगुना है, वैसे ही वास्तवमें भी दुगुना ही द्रव्य होता है। आदि

अर्थ—अपना अपनी मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवा भाग सवघातिप्रकृतियोंका होता है। शेष भाग प्रति समय बधनेवाली शेष देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है।

भावार्थ—मूल प्रकृतियोंको जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियाम विभाजित होजाता है, क्योंकि उत्तर प्रकृतियोंके सिवाय मूलप्रकृति नामकी कोइ स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिस प्रकार ग्रहीत पुद्गलद्रव्य उन्हीं कर्मोंम विभाजित होता है, जिन कर्मोंका उस समय बन्ध होता है। उसी तरह प्रत्येक मूलप्रकृतिका जो भाग मिलता है वह भाग भी उसकी उन्हीं उत्तर प्रकृतियाम विभाजित होता है, जिनका उस समय बन्ध होता है। जो प्रकृतिया उस समय नहीं बधती, उनको उस समय भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि भाग मिलनेका नाम ही तो बन्ध है, और भाग न मिलनेका नाम ही अबन्ध है।

पहले बतला आये हैं कि आठकर्मोंमें से चार कर्म घाती हैं और चार कर्म अघाती हैं। घातिकर्मोंकी कुछ उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघातिनी होती हैं और कुछ देशघातिनी होती हैं। इस गाथामें उन्हींको लक्ष्यकरके लिखा है

१ ज समय जावइयाइ बधए ताण एरिस विहीए।
पत्तेय पत्तेय भागे निव्वत्तए जीवो ॥ २८६ ॥' पञ्चस०।

२ उत्तर प्रकृतियोंमें पुद्गल दलिकोंका बटवारा करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

'ज सव्वघातिपत्त सगकम्मपएसणतमो भागो।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पचहा विग्धे ॥२५॥ बन्धनकरण।

अर्थात्—जो कर्मदलिक सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है वह अपनी अपनी मूल प्रकृतिको जो भाग मिलता है उसका अनन्तवां भाग होता है। शेष द्रव्यका बटवारा देशघातिप्रकृतियोंमें हो जाता है। अत ज्ञानावरणका शेष द्रव्य चार भागोंमें विभाजित होकर उसकी चार देशघातिप्रकृतियोंको

कि घातिकर्मका जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघातिप्रकृतियोंको होता है और शेष बहुभाग बंधनेवाली देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं। उनमेंसे एक केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वघातिनी है और शेष चार देशघातिनी हैं। जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणरूप परिणत होता है, उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघाती है अतः वह केवलज्ञानावरणको मिलता है। और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाति प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है। दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ नौ हैं। उनमें केवल दर्शनावरण और पाँचों निद्राएँ सर्वघातिनी हैं और शेष तीन प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। दर्शनावरणरूप जो द्रव्य परिणत होता है उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघाती है, अतः वह छह सर्वघातिप्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिप्रकृतियोंमें बट जाता है। वेदनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ दो हैं, किन्तु उनमेंसे प्रतिसमय एक ही

मिल जाता है, और दर्शनावरणका शेष द्रव्य तीन भागोंमें विभाजित होकर उसकी तीन देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है। किन्तु अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है, वह पूराका पूरा पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाँचो देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है, क्योंकि अन्तरायकी कोई भी प्रकृति सर्वघातिनी नहीं है।

सर्वघाती और देशघाती द्रव्यके बटवारेके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें भी ऐसा ही लिखा है—

'सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो।
सव्वघाइण दिज्जइ सो इयरो देसघाईण ॥ ४३४ ॥'

अर्थात्—मूलप्रकृतिको मिले हुए भागका अनन्तवाँ भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रसवाला द्रव्य है, वह सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है, और शेष अनुत्कृष्ट रसवाला द्रव्य देशघातिप्रकृतियोंको दिया जाता है।

प्रकृतिका बंध होता है। अतः वेदनीयकर्मको जो द्रव्य मिलता है वह उ
एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

मोहनीयकर्मको जो भाग मिलता है, उसमें अनन्तवां भाग सर्वघा

---

१ मोहनीयकर्मके द्रव्यका बटवारा बतलाते हुए पञ्चसंग्रहमें लिखा

'उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छे अद्धं तु इयरघाईणं ।

संजलण नोकसाया सेसं अद्धद्धयं लेंति ॥ ४३५ ॥

अर्थात्–मोहनीयकर्मके सर्वघाती द्रव्यका आधा भाग मिथ्यात्वको मिल
है और आधा भाग बारह कषायोंको मिलता है। शेष देशघातिद्रव्य
आधा भाग संज्वलन कषायको और आधा भाग नोकषायको मिलता है

मोहनीय वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मके द्रव्यका बटवारा उनकी उ
प्रकृतियोंमें करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है–

'मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि बज्झमाणीणं ।

वेयणिआउयगोएसु बज्झमाणीण भागो सिं ॥२६॥' बन्धनकर

अर्थात्–स्थितिके प्रतिभागके अनुसार मोहनीयको जो मूल भाग मिल
है उसके अनन्तवें भाग सर्वघातिद्रव्यके दो भाग किये जाते हैं। आधा भ
दर्शनमोहनीयको मिलता है और आधा भाग चारित्रमोहनीयको मिलता
शेष मूलभागके भी दो भाग किये जाते हैं आधा भाग कषायमोहनीयको मिल
है, और आधा भाग नोकषायमोहनीयको मिलता है। कषाय मोहनी
जो भाग मिलता है, उसके पुनः चार भाग किये जाते हैं और वे चारों भ
संज्वलन क्रोध, मान माया और लोभको दिये जाते हैं। नोकषाय मोहन
के भागके पांच भाग किये जाते हैं और वे पाँचों भाग तीनों वेदोंमें से कि
एक वेदको, हास्य रति और शोक अरतिके युगलों से एक युगलको भ
और जुगुप्साको दिये जाते हैं, क्योंकि एक समयमें पाँच ही नोकषाय
बन्ध होता है। तथा, वेदनीय आयु और गोत्रकर्मको जो मूल भाग मि

द्रव्य होता है और शेष देशघाती द्रव्य होता है। सर्वघाती द्रव्यके दो भाग होजाते हैं। एक भाग दर्शनमोहनीयको मिल जाता है और दूसरा भाग चारित्र मोहनीयको मिलजाता है। दर्शनमोहनीयका पूरा भाग उसकी उत्तरप्रकृति मिथ्यात्वमोहनीयको मिल जाता है। किन्तु चारित्र मोहनीय-के भागके बारह हिस्से होकर अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंमें बट जाते हैं। मोहनीयकर्मके देशघातिद्रव्यके दो भाग होते हैं। उनमेंसे एक भाग कषायमोहनीयका होता है और दूसरा नोकषायमोहनीयका। कषाय-मोहनीयके भागके चार भाग होकर सञ्ज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते हैं। और नोकषाय मोहनीयके पाँच भाग होते हैं, जो क्रमशः तीनों वेदोंमसे किसी एक बध्यमान वेदको, हास्य और रतिके युगल तथा शोक और अरतिके युगलोंमेंसे किसी एक युगलको (युगलमेंसे प्रत्येक को एक एक भाग) तथा भय और जुगुप्साको मिलते हैं। आयुकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बधती है। अतः आयुकर्मको जो भाग मिलता है, वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है, जो उस समय बधती है।

नामकर्मको जो मूलभाग मिलता है, वह उसकी बधनेवाली उत्तर प्रकृ-

है, वह उनकी बन्धन वाली एक एक प्रकृतिको ही मिल जाता है क्योंकि इन कर्मोंकी एक समयमें एक ही प्रकृति बधती है।

१ नामकर्मके बटवारेके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है–

पिंडपगतीसु वज्झतिगाण वण्णरसगंधफासाणं।

सव्वासिं संघाए तणुम्मि य तिग चउक्क वा ॥२७॥' बन्धनकरण।

अर्थात्–नामकर्म को जो भाग मिलता है वह उसकी बधनेवाली प्रकृतियोंका होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जो भाग मिलता है वह उनकी सब अवान्तर प्रकृतियोंका होता है। संघात और शरीरको जो भाग मिलता है, वह तीन या चार भागोंमें बटजाता है।

तियोंमें बट जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपाङ्ग, बन्धन, सङ्घातन, संहनन, संस्थान, आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थङ्कर, आतप, शुभाशुभ विहायोगति, और

१ कर्मकाण्डमें गाथा १९९ से २०६ तक उत्तरप्रकृतियोंमें पुद्गलद्रव्यके बटवारेका वर्णन किया है। कर्मकाण्डके अनुसार घातिकर्मोंको जो भाग मिलता है उसमेंसे अनन्तवां भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य होता है, जैसा कि कर्मग्रन्थका भी आशय है। किन्तु कर्मकाण्डके मतसे सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है। जैसा कि उसमें लिखा है–

सव्वावरणं दव्वं विभज्जणिज्जं तु उभयपयडीसु।

देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे ॥

अर्थात्–सर्वघाती द्रव्यका विभाग दोनों तरहकी प्रकृतियोंमें करना चाहिये। किन्तु देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातिप्रकृतियोंमें ही करना चाहिये। कर्मकाण्डके अनुसार प्रत्येक कर्मके विभागकी रीति निम्नप्रकार है–ज्ञानावरणके–सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभाग मतिज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरणको, इसी तरह चौथा बहुभाग मनःपर्ययज्ञानावरणको और शेष एक भाग केवलज्ञानावरणको देना चाहिये। पहिलेके समान भागमें अपने अपने बहुभागको मिलानेसे मतिज्ञानावरण वगैरहका सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भागके सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरणके सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियोंको

त्रसदशक अथवा स्थावरदशकमें से जितनी प्रकृतियां एक समयमें बन्धको प्राप्त होती हैं, उतने भागोंमें वह भाग बंट जाता है। विशेषता यह है कि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदोंमें बंट जाता है। जैसे, वर्णनामको जो भाग मिलता है वह पांच भागोंमें विभाजित होकर उसके शुक्लादिक भेदोंमें बंट जाता है।

मिलता है। विभागकी रीति ऊपरके अनुसार ही है। अर्थात् देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिये और वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिको नम्बरवार देना चाहिये। अपने अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्यको मिलानेसे अपने अपने सर्वद्रव्यका परिमाण होता है।

दर्शनावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके नौ भाग करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देदेकर बहुभाग निकालना चाहिये और पहला बहुभाग स्त्यानगृद्धिको, दूसरा निद्रानिद्राको, तीसरा प्रचला प्रचलाको, चौथा निद्राको, पाँचवा प्रचलाको, छठा चक्षुदर्शनावरणको, सातवां अचक्षुदर्शनावरणको, आठवा अवधिदर्शनावरणको, और शेष एक भाग केवलदर्शनावरण को देना चाहिये। इसी प्रकार देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके देशघाती चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें भी भाग देदेकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरणको दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरणको और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरणको देना चाहिये। अपने अपने भागोंका सकलन करनेसे

इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्श नामको जो भाग मिलता है, वह उनके भेदोंमें विभाजित होजाता है । तथा, संघात और शरीर नामकर्मको जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागोंमें विभाजित होकर संघात और शरीरनामकी तीन या चार प्रकृतियोंको मिल जाता है । यदि औदारिक, तैजस और कार्मण या वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन तीन शरीरों और

अपने अपने द्रव्यका प्रमाण होता है । चक्षु अचक्षु और अवधि दर्शनावरणका द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी । शेष छह प्रकृतियोंका द्रव्य सर्वघाती ही होता है क्योंकि वे सर्वघातिप्रकृतियाँ हैं ।

अन्तरायकर्मके—द्रव्यमें उक्त प्रतिभागका भाग देकर एक भागके बिना, शेष बहुभागके पांच समान भाग करके पाँचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये । अवशेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग वीर्यान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तरायको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभागका भाग देदेकर बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भाग दानान्तरायको देना चाहिये । अपने अपने समान भागमें अपना अपना बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

मोहनीयकर्मके—सर्वघाती द्रव्यको प्रतिभाग आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके सत्रह समान भाग करके सत्रह प्रकृतियोंको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्वको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभको देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी मायाको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहता जाय उसको प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी क्रोधको अनन्तानुबन्धी मानको संज्वलन

संघातका एक साथ बन्ध होता है तो उसके तीन भाग होजाते हैं । और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघातका बन्ध होता है तो चार विभाग होजाते हैं । तथा, बन्धन नामको जो भाग मिलता है, उसके यदि तीन शरीरोंका बन्ध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार

लोभको, सज्वलन मायाको, सज्वलन क्रोधको, सज्वलन मानको, प्रत्याख्यानावरण लोभको, प्रत्याख्यानावरण मायाको, प्रत्याख्यानावरण क्रोधको, प्रत्याख्यानावरण मानको, अप्रत्याख्यानावरण लोभको अप्रत्याख्यानावरण मायाको, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मानको देना चाहिये। अपने अपने एक एक भागमें पीछेके अपने अपने बहुभागको मिलानेसे अपना अपना सर्वघाती द्रव्य होता है ।

देशघाती द्रव्यको आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर, एक भाग को जुदा रख, बहुभागका आधा तो नोकषायको देना चाहिये, और बहु भागका आधा और शेष एक भाग सज्वलन कषायको देना चाहिय । सज्वलनकषायके देशघाती द्रव्यमे प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों कषायोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्वलन लोभको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्वलन मायाको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्वलनक्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग सज्वलनमान को देना चाहिये । पहलेके अपने अपने एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलाने से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है। चारों सज्वलन कषायोंका अपना अपना सर्वघाती और देशघाती द्रव्य मिलानेसे अपना अपना सर्वद्रव्य होता है । मिथ्यात्व और बारह कषायका सब द्रव्य सर्वघाती ही है, और नोकषायका सब द्रव्य देशघाती ही है । नोकषायका विभाग इस प्रकार होता

शरीरोंका बन्ध होता ग्यारह भाग होते हैं। अर्थात् औदारिक औदारिक, औदारिक तैजस, औदारिक कार्मण, औदारिक तैजसकार्मण, तैजस तैजस, तैजस कार्मण और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं, अथवा वैक्रिय वैक्रिय, वैक्रिय तैजस, वैक्रिय कार्मण, वैक्रिय

है—नोकषायके द्रव्यको प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग, तीनों वेदोंमें से जिस वेदका बन्ध हो उस देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग रति और अरतिमेंसे जिसका बन्ध हो, उस देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग हास्य और शोकमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग भयको देना चाहिये। शेष एक भाग जुगुप्साको देना चाहिये। अपने अपने एक एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है।

नामकर्मको—तिर्यञ्चगति एकेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण ये तीन शरीर, हुण्ड संस्थान, वर्ण गन्ध, रस स्पर्श तिर्यञ्चानुपूर्वी अगुरुलघु उपघात स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग अना देय अयश कीर्ति और निर्माण इन तेइस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मनुष्य अथवा तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्मको जो द्रव्य मिला हो, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक एक प्रकृतिको एक एक भाग देना चाहिये। ऊपर लिखी तेइस प्रकृतियोंमें औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों प्रकृतियां एक शरीरनाम पिंडप्रकृतिके ही अवान्तर भेद हैं। अतः उनको पृथक् पृथक् द्रव्य न मिल कर एक शरीर नामको ही हिस्सा मिलता है। इससे इक्कीस ही भाग किये हैं। अस्तु,

तैजस कार्मण, तैजस तैजस, तैजसकार्मण, और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं। और वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क तथा तैजस और कार्मणके तीन, इस प्रकार ग्यारह बन्धनोंका बन्ध

शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अन्तकी निर्माण प्रकृतिको देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अयशःकीर्तिको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनादेयको देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे दे कर बहुभाग दुर्भग, अशुभ वगैरहको देना चाहिये। अन्तमें जो एक भाग रहे, वह तिर्यग्गतिको देना चाहिये।

पहलेके अपने अपने समान भागमें पीछेका भाग मिलनेसे अपना अपना द्रव्य होता है। जहां पच्चीस, छब्बीस, अठ्ठाईस, उनतीस, तीस या इकतीस प्रकृतिका एक साथ बन्ध होता है, वहां भी इसी प्रकार बटवारेका क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहां केवल एक यशःकीर्तिका ही बन्ध होता है वहां नामकर्मका सब द्रव्य इस एक प्रकृतिको ही मिलता है। नामकर्मके उक्त बन्धस्थानोंमें जो पिण्ड प्रकृतियां हैं, उनके द्रव्यका बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है। जैसे, ऊपरके बन्धस्थानमें शरीरनाम पिण्ड प्रकृतिके तीन भेद हैं, अतः बटवारेमें शरीरनामको जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभागके तीन समान भाग करके, तीनोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग कार्मण शरीरको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग तैजसको देना चाहिये। शेष एक भाग औदारिकको देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिण्ड प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये। जहां पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियोंमेंसे एकही प्रकृतिका बन्ध होता हो, वहां पिण्डप्रकृतिका सब द्रव्य उस एकही प्रकृतिको देना चाहिये।

करनेपर ग्यारह भाग होते हैं। इनके सिवाय नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंमें कोई अवान्तर विभाग नहीं होता, जो भाग मिलता है वह पूरा उसकी उस एक प्रकृतिको ही मिलजाता है। क्योंकि अन्यप्रकृतियां आपसमें विरोधिनी हैं, एकका बन्ध होनेपर दूसरीका बन्ध नहीं होता। जैसे, एक गतिका बन्ध होनेपर दूसरी गतिका बन्ध नहीं होता। इसी तरह जाति, संस्थान

पाठक देखेंगे कि नामकर्मके बटवारेमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक द्रव्य प्रकृतियोंको दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्रमसे हीन हीन द्रव्य बांटा जाता है, किन्तु अन्तराय और नामकर्मकी प्रकृतियोंमें क्रमसे अधिक अधिक द्रव्य बांटा जाता है। वेदनीय आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बंधती है। अतः मूलप्रकृतिको जो द्रव्य मिलता है, वह उस एकही प्रकृतिको मिलजाता है। इस प्रकार कर्मकाण्डके अनुसार पुद्गलद्रव्यका बटवारा जानना चाहिये।

कर्मप्रकृति (प्रदेशबन्ध गा० २८) में दलिकोंके विभागका पूरा पूरा विवरण तो नहीं दिया किन्तु उत्तर प्रकृतियोंमें कर्मदलिकके विभागकी हीनाधिकता बतलाई है। अर्थात् यह बतलाया है कि किस प्रकृतिको अधिक भाग मिलता है और किसको कम भाग मिलता है। उससे यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है। अतः कर्मकाण्डके मन्तव्यके साथ कर्मप्रकृतिके मतव्य की तुलना कर सकनेके लिये उसे हम यहां देते हैं—

ज्ञानावरण—१-केवलज्ञानावरणका भाग सबसे कम, २-मनःपर्ययज्ञानावरणका उससे अनन्तगुणा, ३-अवधिज्ञानावरणका मनःपर्ययसे अधिक, ४-श्रुतज्ञानावरणका उससे अधिक, और ५-मतिज्ञानावरणका उससे अधिक भाग है।

दर्शनावरण—१-प्रचलाका सबसे कम, २-निद्राका उससे अधिक, ३-प्रचलाप्रचलाका उससे अधिक, ४-निद्रानिद्राका उससे अधिक ५-स्त्यान

और संहनन भी एक समयमें एक ही बंधता है । तथा त्रसादिक दसका बंध होनेपर स्थावरादिक दसका बंध नहीं होता ।

गोत्रकर्मको जो भाग मिलता है वह सबका सब उसकी बंधनेवाली एक प्रकृतिको ही होता है, क्योंकि गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही प्रकृति बंधती

दिका उससे अधिक, ६-केवलदर्शनावरणका उससे अधिक ७-अवधिदर्शनावरणका उससे अनन्तगुणा, ८-अचक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक और ९-चक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक भाग होता है ।

वेदनीय—असातवेदनीयका सबसे कम और सातवेदनीयका उससे अधिक द्रव्य होता है ।

मोहनीय—१-अप्रत्याख्यानावरण मानका सबसे कम, २-अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उससे अधिक, ३-अप्रत्याख्यानावरण मायाका उससे अधिक, और ४-अप्रत्याख्यानावरण लोभका उससे अधिक भाग है । उससे इसी तरह ८-प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका उत्तरोत्तर भाग अधिक है । उससे इसी तरह १२-अनन्तानुबन्धी चतुष्कका भाग उत्तरोत्तर अधिक है । उससे १३-मिथ्यात्वका भाग अधिक है । मिथ्यात्वसे १४-जुगुप्साका भाग अनन्तगुणा है । उससे १५-भयका भाग अधिक है । १७-हास्य और शोकका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर १९-रति और अरतिका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २१-स्त्री और नपुंसक वेदका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २२-संज्वलन क्रोधका उससे अधिक, २३-संज्वलन मानका उससे अधिक, २४-पुरुषवेदका उससे अधिक, २५-संज्वलन मायाका उससे अधिक और २६-संज्वलन लोभका उससे असंख्यात गुणा भाग है ।

आयुकर्म—चारों प्रकृतियोंका समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बंधती है ।

नाम—गतिनामकर्ममें-२-देव गति और नरक गतिका सबसे कम,

है। अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है वह पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाचों उत्तरप्रकृतियोंको मिलता है, क्योंकि ध्रुवबंधी होनेके कारण वे पाचों प्रकृतियां सदा बंधती हैं।

किन्तु परस्परमें बराबर ३-मनुष्यगतिका उससे अधिक, और ४-तिर्यग्गति का उससे अधिक भाग है।

जातिनामकर्ममें—४-द्वीन्द्रिय आदि चारों जातियोंका सबसे कम, किन्तु आपसमें बराबर और ५-एकेन्द्रिय जातिका उससे अधिक भाग है।

शरीर नामकर्ममें—१-आहारकका सबसे कम, २-वैक्रियशरीरका उससे अधिक ३-औदारिकशरीरका उससे अधिक, ४-तैजसशरीरका उससे अधिक और ५-कार्मणशरीरका उससे अधिक भाग है।

इसी तरह पांचो संघातों का भी समझना चाहिये।

अङ्गोपाङ्गनामकर्ममें—१-आहारक अङ्गोपाङ्गका सबसे कम २-वैक्रियका उससे अधिक, और ३-औदारिकका उससे अधिक भाग है।

बन्धनमें—१-आहारकआहारकबन्धनका सबसे कम, २-आहारक तैजसबन्धन का उससे अधिक, ३-आहारककार्मण बन्धनका उससे अधिक, ४-आहारकतैजसकार्मणबन्धनका उससे अधिक ५-वैक्रियवैक्रियबन्धन का उससे अधिक, ६-वैक्रियतैजसबन्धनका उससे अधिक, ७-वैक्रियकार्मण बन्धन का उससे अधिक, ८-वैक्रियतैजसकार्मण बन्धन का उससे अधिक, इसी प्रकार ९-औदारिकऔदारिक बन्धन, १०-औदारिकतैजस बन्धन, ११-औदारिककार्मण बन्धन १२-औदारिकतैजसकार्मण बन्धन, १३-तैजसतैजस बन्धन, १४-तैजसकार्मण बन्धन और १५-कार्मणकार्मण बन्धनका भाग उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका अधिक अधिक होता है।

संस्थानमें-४-मध्यके चार संस्थानोंका सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर बराबर भाग होता है। ५-उससे समचतुरस्रका और उससे का भाग उत्तरोत्तर अधिक है।

१

शङ्का—यहा पर, बधनेवाली प्रकृतियोंमें ही विभागका क्रम बतलाया है। किन्तु जब अपने अपने गुणस्थानमें किन्हीं प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद होजाता है, तो उन प्रकृतियोंके भागका क्या होता है ?

उत्तर—जिन प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद होजाता है, उनका भाग उनकी सजातीय प्रकृतियोंमें ही विभाजित होजाता है। यदि सभी सजातीय प्रकृतियोंके बंधका विच्छेद हो जाता है तो उनके हिस्सेका द्रव्य उनकी मूलप्रकृतिके ही अन्तर्गत जो विजातीय प्रकृतियां हैं, उनको मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियोंका भी बंध रुक जाता है, तो उस मूल प्रकृति-

---

संहननोंमें-५-आदिके पाँच संहननोंका द्रव्य बराबर बराबर किन्तु सबसे थोडा है, उससे ६-सेवार्त का अधिक है ।

वर्णमें-१-कृष्णका सबसे कम, और २-नील, ३-लोहित, ४-पीत तथा ५-शुक्ल का एकसे दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

गन्धमें-१-सुगन्ध का कम और २-दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है।

रसमें-१-कटुक रसका सबसे कम और २-तिक्त, ३-कषैला, ४-खट्टा और ५-मधुरका उत्तरोत्तर एकसे दूसरे का अधिक अधिक भाग है।

स्पर्शमें-२-कर्कश और गुरु स्पर्शका सबसे कम ४-मृदु और लघु स्पर्श का उससे अधिक ६-रूक्ष और शीतका उससे अधिक तथा ८-स्निग्ध और उष्णका उससे अधिक भाग है। चारों युगलोंमें जो दो दो स्पर्श हैं उनका आपसमें बराबर बराबर भाग है।

आनुपूर्वीमें-१-देवानुपूर्वी और २-नरकानुपूर्वीका भाग सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर होता है। उससे ३-मनुष्यानुपूर्वी और ४-तिर्यगानुपूर्वीका क्रमसे अधिक अधिक भाग है।

त्रसादि बीसमें-त्रसका कम, स्थावरका उससे अधिक। पर्याप्तका कम, अपर्याप्तका उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ सुभग दुर्भग, सूक्ष्म बादर, और आदेय अनादेयका भी समझना

को द्रव्य न मिलकर अन्य मूलप्रकृतियाको मिल जाता है । जैसे, स्त्यानर्द्धि निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर, उनके हिस्सेका सब द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचलाको मिलता है। निद्रा और प्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर उनका द्रव्य अपनी ही मूलप्रकृतिके अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण वगैरह विजातीय प्रकृतियोंको मिलता है। उनके भी बन्धका विच्छेद होनेपर ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें सब द्रव्य सातवेदनीयका हो जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये ।

चाहिये। तथा अयश कीर्तिका सबसे कम और यश कीर्तिका उससे अधिक भाग है। आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुस्वरका परस्परमें बराबर भाग है ।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थङ्कर नामका अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्वका विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियोंमें ही किया जाता है। जैसे कृष्णनाम कर्मके लिये वर्णनाम कर्मके शेष भेद सजातीय हैं। तथा सुभग और दुर्भग परस्परमें विरोधी हैं। किन्तु उक्त प्रकृतियां न तो सजातीय ही हैं क्योंकि वे किसी एक ही पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतिया नहीं है। तथा विरोधी भी नहीं हैं, क्योंकि उनका बन्ध एक साथ भी हो सकता है ।

गोत्रकर्म–में नीच गोत्रका कम उच्च गोत्रका अधिक है ।

अन्तराय–में दानान्तरायका सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायका उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

यह अल्पबहुत्व उत्कृष्ट पदकी अपेक्षासे है ।

जघन्य पदकी अपेक्षासे ज्ञानावरण, और वेदनीयका अल्पबहुत्व पूर्ववत् ही है। दर्शनावरणमें निद्राका सबसे कम प्रचलाका उससे अधिक, निद्रा उससे अधिक प्रचला प्रचलाका उससे अधिक, स्त्यानर्द्धिका उससे

बतलाई गई रीतिके अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियोंको जो कर्मदलिक मिलते हैं, गुणश्रेणिरचनाके द्वारा ही जीव उन कर्मदलिकोंके बहुभागका क्षपण करता है। अत गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाते हुए पहले उसकी संख्या और नाम बतलाते हैं—

अधिक, शेष पूर्ववत् भाग है। मोहनीयमें केवल इतना अन्तर है कि तीनों वेदोंका भाग परस्परमें तुल्य है और रति अरति से विशेषाधिक है। उससे सज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभका उत्तरोत्तर अधिक है। आयुमें तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका सबसे कम है और देवायु नरकायुका उससे असख्यात गुणा है। नामकर्ममें तिर्यञ्चगतिका सबसे कम, मनुष्य गतिका उससे अधिक, देवगतिका उससे असख्यातगुणा और नरकगतिका उससे असख्यातगुणा भाग है। जातिका पूर्ववत् है। शरीरोंमें औदारिकका सबसे कम, तैजसका उससे अधिक, कार्मणका उससे अधिक, वैक्रियका उससे असख्यातगुणा, आहारकका उससे असख्यातगुणा भाग है। संघात और बन्धनमें भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिये। अङ्गोपाङ्गमें औदारिकका सबसे कम, वैक्रियका उससे असख्यातगुणा, आहारकका उससे असख्यातगुणा भाग है। आनुपूर्वीका पूर्ववत् है। शेष प्रकृतियोंका भी पूर्ववत् जानना चाहिये। गोत्र और अन्तराय कर्मका भी पूर्ववत् है।

१-पञ्चसङ्ग्रहमें इन गुणश्रेणियोंको निम्न प्रकारसे बतलाया है—

"सम्मत्तदेससपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसजोगे।
दसणखवणे मोहस्स समणे उवसत खवगे य ॥ ३१४ ॥
खीणाइतिगे असखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ सखसे ॥ ३१५ ॥"

अर्थात्-सम्यक्त्व, देशविरति और सपूर्ण विरतिकी उत्पत्तिमें, अनन्तानुबन्धीके विसयोजनमें, दर्शनमोहनीयके क्षपणमें, मोहनीयके उपशमनमें, उप-

सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन, दर्शनमोहनीयका क्षपक, चारित्रमोहनीयका उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये ग्यारह गुणश्रेणि होती हैं।

भावार्थ—कर्मोंके दलिकोंका वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती। यद्यपि स्थिति और रसका घात तो बिना ही वेदन किये शुभ परिणाम वगैरहके द्वारा किया जा सकता है, किन्तु दलिकोंकी निर्जरा वेदन किये बिना नहीं हो सकती। यों तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिकोंका अनुभवन करता रहता है, अतः कर्मोंकी भोगजन्य निर्जरा, जिसे औदयिक अथवा सविपाक निर्जरा भी कहते हैं, उसके प्रतिसमय होती रहती है। किन्तु इस तरहसे एक तो परिमित कर्मदलिकोंकी ही निर्जरा होती है, दूसरे भोगजन्य निर्जरा नवीन कर्मबन्धका भी कारण है, अतः उसके द्वारा कोई जीव कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। (अतः उसके लिये कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक कर्मपरमाणुओंका क्षपण होना आवश्यक है। तथा उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही जाना चाहिये। इसे ही गुणश्रेणि निर्जरा कहते हैं।) इस प्रकारकी निर्जरा तभी होती है, जब आत्माके भावोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होती है। अर्थात् जीव उत्तरोत्तर विशुद्धिस्थानोंपर आरोहण करता जाता है। ये विशुद्धिस्थान, जो गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचनाका कारण होनेसे गुणश्रेणि भी कहे जाते हैं, ग्यारह होते हैं।

शान्तमोहमें, क्षपक श्रेणिमें, और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमशः असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है। तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका काल क्रमशः संख्यातवें भाग संख्यातवें भाग है॥ १–रह उ स० प्र०।

उक्त गाथामें उन्हीं ग्यारह स्थानोंके नाम बतलाये हैं। जीव प्रथम सम्यक्त्व-की प्राप्तिके लिये अपूर्वकरण वगैरहको करते समय प्रतिसमय असंख्यात-गुणी असंख्यातगुणा निर्जरा करता है, तथा सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके बाद भी उसका क्रम जारी रहता है। यह सम्यक्त्व नामकी पहली गुणश्रेणि है। आगे की अन्य श्रेणियोंकी अपेक्षासे इस श्रेणिमें अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मन्द विशुद्धि रहती है, अतः उनकी अपेक्षासे इसमें कम कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उनके वेदन करनेका काल अधिक होता है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् जीव जब विरतिका एकदेश पालन करता है तब देशविरतिनामका दूसरी गुणश्रेणि होती है। इसमें प्रथम गुणश्रेणिकी अपेक्षासे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु वेदन करनेका समय उससे संख्यातगुणा कम होता है। सपूर्ण विरति-का पालन करनेपर तीसरी गुणश्रेणि होती है। देशविरतिसे इसमें अनन्त-गुणी विशुद्धि होती है, अतः इसमें उससे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकों-की गुणश्रेणिरचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उससे संख्यातगुणा हीन होता है। इसी तरह आगे आगेकी गुणश्रेणिमें असंख्यात-गुणे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन होता जाता है।

जब जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करता है, अर्थात् अन-न्तानुबन्धी कषायके समस्त कर्मदलिकोंको अन्य कषायरूप परिणमाता है, तब चौथी गुणश्रेणि होती है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका विनाश करते समय पांचवी गुणश्रेणि होती है। आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशमन करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशा-न्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें सातवी गुणश्रेणि होती है। क्षपकश्रेणिमें चारित्रमोहनीयका क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह

नामक बारहवें गुणस्थानमें नवमी गुणश्रेणि होती है। सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें दसवीं गुणश्रेणि होती है। और अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। इन सभी गुणश्रेणियोंमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन लगता है। अर्थात् कम समयमें अधिक अधिक कर्मदलिक खपाये जाते हैं। इसीसे उक्त ग्यारह स्थान गुणश्रेणि कहलाते हैं।

१ गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी इसी क्रमसे गुणश्रेणियोंकी गणना की है, जो इस प्रकार है–

"सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते ॥ ६६ ॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥ ६७ ॥"

अर्थात्–सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर, श्रावकके, मुनिके अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेकी अवस्थामें दर्शनमोहका क्षपण करने वालेके, कषायका उपशम करने वालेके, उपशान्त मोहके, क्षपक श्रेणिके तीन गुण स्थानोंमें क्षीणमोह गुणस्थानमें, तथा स्वस्थान केवलीके और समुद्घात करने वाले केवलीके गुणश्रेणि निर्जराका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा असंख्यात गुणा है और काल उससे विपरीत है। अर्थात् समुद्घातगत केवलीसे लेकर सम्यक्त्व स्थान तक उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा काल लगता है। अथवा यह कहना चाहिये कि काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है। इसमें कर्मग्रन्थसे केवल इतना ही अन्तर है कि अयोग केवलीके स्थानमें समुद्घातगत केवलीको गिनाया है।

तत्त्वार्थसूत्र ९-४५ में सयोगी अयोगीके स्थानमें केवल 'जिन'को रखा है। और टीकाकारोंने उसे एक ही स्थान गिना है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गुणश्रेणियोंका यदि गुणस्थानके क्रमसे विभाग किया जाये, तो उनमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सभी गुणस्थान सम्मिलित हो जाते हैं। तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी उनमें सम्मिलित हो जाता है। विशुद्धिकी वृद्धि होनेपर ही चौथे पाचवे आदि गुणस्थान होते हैं अतः आगे आगेके गुणस्थानोंमें जो उक्त गुणश्रेणिया होती हैं उनमें तो अधिक अधिक विशुद्धिका होना स्वाभाविक ही है।

गुणश्रेणिके ग्यारह स्थानोंको बतला कर, अब उसका स्वरूप, तथा जिस गुणश्रेणिमें जितनी निर्जरा होती है, उसका कथन करते हैं—

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए।
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

अर्थ—(उदयक्षणसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी रचनाको गुणश्रेणि कहते हैं)। पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति वगैरह गुणवाले जीव क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं।

भावार्थ—इस गाथाकी पहली पंक्तिमें गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाया है, और दूसरी पंक्तिमें इससे पहलेकी गाथामें बतलाये गये गुणश्रेणिवाले जीवोंके निर्जराका प्रमाण बतलाया है। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणिके ग्यारह प्रकार बतलाये हैं, वे स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं किन्तु गुणश्रेणिके कारण हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें

में सयोगी और अयोगीको ही गिनाया है। यथा—

"उवसंतो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥ १०८ ॥"

किन्तु इसकी संस्कृत टीकामें टीकाकारने स्वस्थान केवली और समुद्घात गत केवलीको ही गिनाया है, 'अजोईया'को उन्होंने छोड़ ही दिया है।

गुणश्रेणि कहा गया है। जैसे कहावत है कि 'अन्न ही प्राण है'। किन्तु अन्न प्राण नहीं है, किन्तु प्राणोंका कारण है, इसलिये उसे प्राण कह देते हैं। इसीतरह सम्यक्त्व वगैरह भी गुणश्रेणिके कारण हैं, किन्तु स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं। गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेष है, जो इस गाथामें बतलाई गई है। इस क्रियाको समझनेके लिये हम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी प्रक्रियापर दृष्टि डालनी होगी। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणोंको करता है। अपूर्वकरणमें प्रवेश करते ही चार काम होने प्रारम्भ हो जाते हैं—एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिबन्ध और चौथा गुणश्रेणि। स्थितिघातके द्वारा पहले बांधे हुए कर्मोंकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। जिन कर्मदलिकोंकी स्थिति कम हो जाती है, उनमेंसे प्रतिसमय असंख्यातगुण असंख्यातगुण दलिक ग्रहण करके उदय समयसे लेकर ऊपरकी ओर स्थापित कर दिये जाते हैं। कर्मप्रकृति-(उपशमनाकरण) की पन्द्रहवीं गाथाकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

"उवरिल्लाओ ठिईओ पोग्गले घेत्तूण उदयसमये थोवा पक्खिवति, बितियसमये असंखेज्जगुणा एव जाव अन्तोमुहुत्तं।"

अर्थात्—'ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करके उनमेंसे उदयसमयमें थोड़े दलिकोंका निक्षेपण करता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय

---

१ 'गुणसेढी निक्खेवो समये समये असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो सेसे सेसे य निक्खेवो ॥ १५ ॥'

अर्थ—प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंके निक्षेपण करनेको गुणश्रेणी कहते हैं। उसका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे कुछ अधिक है। इस कालमें से ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों ऊपरके शेष समयोंमें ही दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।

तक (प्रतिसमय) असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है।'

खुलासा यह है कि स्थितिघातक द्वारा उन्हीं दलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्तमुहूर्तसे अधिक होती है। अतः स्थितिका घात करदेनेसे जो कर्मदलिक बहुत समय बाद उदयमें आते, वे तुरत ही उदयमें आने योग्य होजाते हैं। इसलिये जिन कर्मदलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है, उनमेंसे प्रतिसमय कर्मदलिकोंको ले लेकर, उदयसमयसे लेकर अन्तमुहूर्त कालके अन्तिम समयतक असंख्यात गुणितक्रमसे उनकी स्थापना की जाती है। (अर्थात् पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे थोड़े दलिक उदय समयमें दाखिल करदिये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समयसे ऊपरके द्वितीय समयमें दाखिल करदिये हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें दाखिल कर दिये जाते हैं। इसी क्रमसे अन्तमुहूर्तकालके अन्तिम समयतक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी स्थापना की जाती है। यह प्रथम समयमें गृहीत दलिकोंके स्थापन करनेकी विधि है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें गृहीत दलिकोंके निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। अन्तर्मुहूर्तकाल तक यह क्रिया होती रहती है। इसीको गुणश्रेणि कहते हैं।) जैसा कि कर्मप्रकृतिकी उक्त पद्रहवीं गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने लिखा है—

"अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह-यत्स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया निक्षिपति। उक्तं च-'उवरिल्लठिइहिंतो घित्तूण पुग्गले उ सो खिवइ। उदयसमयम्मि थोवे तत्तो अ असंखगुणिए उ॥१॥ बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ। एवं समए समए अन्तमुहुत्तस्स तु जा पुन्न॥२॥' एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एवं-

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधि द्रष्टव्य । किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण श्रेणिचरमसमय यावद् गृह्यमाण दलिक यथोत्तरमसंख्येयगुण द्रष्टव्यम् । उक्तञ्च-दलिय तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवय गिण्हे । उवरिल्लठिइहिंतो वियम्मि असखगुणिय तु॥१॥ गिण्हइ समए दलिय तइए समए असंखगुणिय तु । एव समए समए जा चरिमो अतसमओत्ति ॥ २ ॥' इहान्तमुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्ति करणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्य , तावत्कालमध्ये चाध स्तनोदयक्षणे वेदनत क्षीणे शेषक्षणेषु दलिक रचयति, न पुन रुपरि गुणश्रेणि वर्धयति । उक्त च-"सेढीइ कालमाण दुण्णय करणाण समहिय जाण । खिज्जइ सा उदएण ज सेस तम्मि णिक्खिवो ।' इति ।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिखण्डकका घात करता है उसमसे दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तमुहूर्तके अन्तिम

---

१ लब्धिसार गाथा ६८ से ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा है, जिसका आशय इस प्रकार है—गुण श्रेणिरचना जो प्रकृतियां उदयमें आरही हैं, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरही है उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेपण तो उदयावली गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। किन्तु जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होतीं उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें जो निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया वलीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये । उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणिके

समय तकके प्रत्येक समयमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—'ऊपरकी स्थितिसे पुद्गलोंको लेकर उदयकालमें थोड़े स्थापन करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालकी समाप्ति तकके समयोंमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।' यह प्रथम समयमें ग्रहण किये हुए दलिकोंके निक्षेपणकी विधि है। इसी ही तरह दूसरे आदि समयोंमें ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। तथा, गुणश्रेणिरचनाके लिये प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते हैं। कहा भी है—"ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करते हुए, प्रथम समयमें थोड़े दलिकोंका ग्रहण करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय तक असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है।" यहां निक्षेपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है और

समयोंके बराबर जो निषेक हैं उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि में दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणिसे ऊपरके, अन्तके कुछ निषेकों को छोड़कर, शेष सर्व निषेकोंमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपरकी स्थितिमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इस क्रियाको मिथ्यात्वके उदाहरणके द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्वके द्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर, एक भाग विना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है। शेष एक भागको पल्यके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभागका स्थापन ऊपरकी स्थितिमें करता है। शेष एक भागमें असख्यातलोकका भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणि आयाम में देता है। शेष एक भाग उदयावलीमें देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि

दलिकाकी रचनारूप गुणश्रेणिका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिये। इसकालसे नीचे नाचेके उदयक्षण का अनुभव करनेके बाद क्षय होजानेपर, बाकीके क्षणोंमें दलिकाकी रचना करता है। किन्तु गुणश्रेणिको ऊपरकी ओर नहीं बढ़ाता है। कहा है— 'गुणश्रेणिका काल दोनों करणोंके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिये। उदयके द्वारा उसका काल क्षीण होता जाता है, अतः जो शेषकाल रहता है उसीमें दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।"

सारांश यह है कि (गुणश्रेणिका काल अन्तर्मुहूर्त है,) अतः अन्तर्मुहूर्त तक ऊपरकी स्थितिमेंसे कर्मदलिकोंका प्रतिसमय ग्रहण किया जाता है। और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका स्थापन असंख्यातगुणित क्रमसे उदयक्षणसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तिम समय तकमें कर दिया जाता है। जैसे यदि अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण १६ समय कल्पना किया जाय तो गुणश्रेणिके प्रथम समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्तप्रकारसे १६ समयोंमें किया जायगा। दूसरे समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन बाकीके पन्द्रह समयोंमें ही होगा क्योंकि पहले उदयक्षणका वेदन होचुका। तीसरे समयमें

रचनाके लिये गुणश्रेणि कालके अन्तिम समयपर्यन्त असंख्यातगुण असंख्यातगुणे द्रव्यका अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधानके अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि आयाम और ऊपरकी स्थितिमें उस द्रव्यका स्थापन करता है। इस प्रकार आयुके सिवाय शेष सातकर्मोंका गुणश्रेणिविधान जानना चाहिये।

जीवकाण्ड गाथा ६६ ६७ की टीकामें भी गुणश्रेणिका विस्तारसे वर्णन किया है।

पञ्चसंग्रहमें भी गुणश्रेणिका स्वरूप उपयुक्त प्रकार ही बतलाया है—

घाइयठिइओ दलियं घेत्तुं घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकालं उदयाइ रयइ गुणसेढिं ॥ ७४६ ॥'

जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयोंमें ही होगा। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि प्रत्येक समयमें गृहीत दलिकोंका स्थापन सोलह ही समयोंमें होता है और इस तरह गुणश्रेणिका काल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार (अन्तर्मुहूर्त कालतक असख्यात गुणित क्रमसे जो दलिकोंकी स्थापनाकी जाती है उसे गुणश्रेणि कहते हैं।) सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय जीव इस प्रकारकी गुणश्रेणि रचना करता है। गुणश्रेणि उदयसमयसे होती है और ऊपर ऊपर असख्यातगुणे असख्यात-गुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। अत गुणश्रेणि करनेवाला जीव ज्यों ज्यों ऊपरकी ओर चढ़ता जाता है त्यों त्यों प्रतिसमय असख्यातगुणी असख्यात-गुणी निर्जरा करता जाता है। क्योंकि जिस क्रमसे दलिक स्थापित होते हैं उसी क्रमसे वे प्रतिसमय उदयमें आते हैं। अत वे असख्यात गुणितक्रमसे स्थापित किये जाते हैं और उसी क्रमसे उदयमें आते हैं, अत सम्यक्त्वम असख्यातगुणी निर्जरा होती है।

देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं करता। तथा अपूर्व-करणमें यहा गुणश्रेणिरचना भी नहीं होती, और अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर नियमसे देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होजाती है। इसीसे तीसरे अनिवृत्तिकरणकी आवश्यकता नहीं होती। उक्त दोनों करण यदि अविरत-दशामें किये जाते हैं तब तो देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होती है, और यदि देशविरत दशामें किये जाते हैं तो नियमसे सर्वविरति प्राप्त होती है। देशविरति अथवा सर्वविरतिकी प्राप्ति होनेपर जीव उदयावलिके ऊपर गुणश्रेणिकी रचना करता है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृतियाँ उदयवती होती हैं, उनमें तो उदयक्षणसे लेकर ही गुणश्रेणि होती है, किन्तु जो प्रकृतियाँ अनुदयवती होती हैं, उनमें उदयावलिकाके ऊपरके समयसे लेकर गुणश्रेणि होती है। पाँचवे गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और छठे

में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती हैं अत उनमें उदयावलिकाको छोड़कर ऊपरके समयसे गुणश्रेणि होती है। देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालतक जीवके परिणाम वर्धमान रहते हैं। उसके बाद कोई नियम नहीं है—किसीके परिणाम वर्धमान रहते हैं, किसीके तदवस्थ रहते हैं, और किसीके हीयमान हो जाते हैं। तथा जबतक देशविरति या सर्वविरति रहती है, तबतक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। किन्तु यहां इतनी विशेषता है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्रके साथ उदयावलिके ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त कालतक असंख्यातगुणितक्रमसे गुणश्रेणिकी रचना करता है, क्योंकि परिणामोंकी नियत वृद्धिका काल उतना ही है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते हैं तो परिणामोंके अनुसार कभी असंख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातगुणी और कभी असंख्यातगुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम होते हैं तो उस समय उक्त प्रकारसे ही हीयमान गुणश्रेणिको करता है, और अवस्थितदशामें अवस्थित गुणश्रेणिको करता है। अर्थात् वर्धमान दशामें दलिकोंकी संख्या बढ़ती हुई होती है, हायमान दशामें घटती हुई होती है और अवस्थित दशामें अवस्थित रहती है। अत देशविरति और सर्वविरतिमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत

---

१ देखो, कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) गा० २८ २९ की चूर्णि और टीकाएँ।

२ 'उदयावलि० उप्पि गुणसेढिं कुणइ सह चरित्तेण।
अतो असखगुणणा० तत्तिय वड्ढुए काल ॥७६३॥' पञ्चसग्रह।

३ 'चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि सयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नतरकरण उवसमो वा ॥३१॥"
कर्मप्रकृति (उप)

और सर्वविरत जीव करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तो चारों गतिके लेने चाहियें, देशविरत मनुष्य और तिर्यञ्च ही होते हैं, और सर्वविरत मनुष्य ही होते हैं। जो जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेके लिये उद्यत होता है, वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणोंको करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही गुणसंक्रम भी होने लगता है। अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अनन्तानुबन्धी कषायके थोड़े दलिकोंका शेष कषायोंमें संक्रमण करता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्वकरणके अन्तिम समयतक होती है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणमें गुणसंक्रम और उद्वलन संक्रमणके द्वारा समस्त दलिकोंका विनाश करदेता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

(दर्शनमोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ वज्रऋषभनाराच संहननका धारक मनुष्य आठवर्षकी अवस्थाके बाद करता है।) किन्तु यह काम जिनकालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही कर सकता है। अर्थात् ऋषभ जिनसे लेकर जम्बूस्वामीको केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने तकके कालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य दर्शनमोहका क्षपण कर सकता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणा भी उसी प्रकारसे जानना चाहिये जैसा कि पहले अनन्तानुबन्धी कषायका बतला आये हैं। यहां पर भी पूर्ववत् तीनों करण करता है और अपूर्वकरणमें गुणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं।

उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव भी तीनों करणोंको करता

---

१ "दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पि ॥ ३२ ॥"
कर्मप्रकृति (उपशम०)

है। यहां इतना अन्तर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थानमें करता है। अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामके गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थानमें करता है। यहां परभी पूर्ववत् स्थितिघात गणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं। अतः उपशमक भी प्रतिसमय असख्यात गुणी असख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीयका उपशम करनेके बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुंच कर भी जीव गुणश्रेणिरचना करता है। उपशान्तमोहका काल अन्तमुहूर्त है और उसके सख्यातवें भाग कालमें गुणश्रेणिकी रचना होती है। अतः यहां पर भी जीव प्रति समय असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थान तक आकर जब जीव क्षपकश्रेणि चढ़ता है, अथवा उपशमश्रेणिपर आरूढ हुए बिना ही सीधा क्षपकश्रेणिपर चढ़ता है तो वहाँपर भी यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और और अनिवृत्तिकरणको करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थानोंसे भी असख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक गुणश्रेणियोंमें भी उत्तरोत्तर असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

इन ग्यारह गुणश्रेणियोंमेंसे प्रत्येकका काल अन्तमुहूर्त अन्तमुहूर्त होने पर भी अन्तमुहूर्तका परिमाण उत्तरोत्तर हीन होता है, तथा निर्जरा द्रव्यका परिमाण सामान्यसे असख्यातगुणा असख्यातगुणा होनेपर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कम कम समयमें अधिक अधिक द्रव्यकी निर्जरा होती है क्योंकि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार गुणश्रेणिका विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणिका वर्णन करते हुए बतला आये हैं कि जीव ज्यों ज्यों आगे के गुणोंको अपनाता जाता है, त्यों त्यों उसके असख्यातगुणी अस

ख्यातगुणी निर्जरा होती है। और क्रमशः सक्लेशकी हानि और विशुद्धिका प्रकर्ष होनेपर आगे आगेके गुण ही गुणस्थान कहे जाते हैं। अत यहा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं—

पलियासंखमुहुत्तं सासणइयरगुण अंतर हस्सं ।
गुरु मिच्छी वे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानका जघन्य अन्तर पल्यके असख्यातवें भाग है। और इतर गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। तथा, मिथ्यात्व गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है, और इतर गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्त है।

भावार्थ—हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व, (देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणियाँ बतलाई हैं, वे प्राय गुणस्थान ही हैं। गुणोंके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं।) अत सम्यक्त्वगुण जिस स्थानमें प्रादुर्भूत होता है, वह सम्यक्त्व गुणस्थान कहा जाता है। देशविरति गुण जिस स्थानमें प्रकट होता है, वह देशविरति गुणस्थान कहा जाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। उक्त गुणश्रेणियोंका सम्बन्ध गुणस्थानोंके साथ होनेके कारण ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थानसे च्युत होकर जितने समयके बाद पुन उस गुणस्थानको प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थानका अन्तरकाल कहा जाता है। यहा सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका जघन्य अन्तराल पल्यके असख्यातवें भाग बतलाया है, जो इस प्रकार है—

कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीयकी उद्वलना कर देनेवाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सास्वादन-

सम्यग्दृष्टि होकर, मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाता है। वही जीव यदि उसी क्रमसे पुन सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करता है तो कमसे कम पल्यके असख्यातवें भाग कालके बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सास्वादन गुणस्थानसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें आनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृतियोंकी सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होते हुए पुन औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होसकता, और औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना सास्वादन गुणस्थान नहीं हो सकता। अत मिथ्यात्वमें जानेके बाद जीव सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीयकी प्रतिसमय उद्वलना करता है, अर्थात् उक्त दोनों प्रकृतियोंके दलिकोंको मिथ्यात्व मोहनीयरूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वेलन करते करते पल्यके असख्यातवें भाग कालमें उक्त दोनों प्रकृतियोंका अभाव हो जाता है। और उसके होने पर वही जीव पुन औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सास्वादन गुणस्थानमें आ जाता है। अत सास्वादन गुणस्थानका अन्तरकाल पल्यके असख्यातवें भागसे कम नहीं हो सकता।

शङ्का—कोई कोई जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानमें आते हैं, और अन्तर्मुहूर्तके बाद पुन उपशमश्रेणिपर चढ़कर, वहाँसे गिरकर पुन सास्वादन गुणस्थानमें आ जाते हैं। इस प्रकारसे सास्वादनका जघन्य अन्तर बहुत थोड़ा होता है। अत उसका जघन्य अन्तर पल्यके असख्यातवें भाग क्यों बतलाया गया है?

---

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंके बिना ही किसी प्रकृतिको अन्य प्रकृति रूप परिणमानेको उद्वलन कहते हैं।

२ 'पल्योपमासख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयत स्तोके उद्वलनसक्रमे सर्वोजघन्य प्रदेशसक्रम ।'

(कर्मप्रकृति, मलय० टी० गा० १०० सक्रम०)

उत्तर-उपशमश्रेणिसे च्युत होकर जो सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगतिमें ही सम्भव है और वहाँ पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है। अतः यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है। किन्तु उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सास्वादनकी प्राप्ति बतलाई है, वह चारों गतिमें सम्भव है। अतः उसकी अपेक्षासे ही सास्वादनका जघन्य अन्तराल बतलाया है।

सास्वादनके सिवाय बाकीके गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशमश्रेणिके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन गुणस्थानोंको पुनः प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तराल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि जब कोई जीव उपशमश्रेणि पर चढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है, और वहाँसे गिरकर क्रमशः उतरते उतरते मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आ जाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें पुनः ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योंकि एक भवमें दो बार उपशम श्रेणिपर चढनेका विधान शास्त्रोंमें पाया जाता है[1] उस समय मिश्रगुणस्थानके सिवाय उक्त बाकीके गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ मिश्रगुणस्थानको इसलिये छोड़ दिया है कि श्रेणिसे गिरकर जीव मिश्र गुणस्थानमें नहीं जाता है। अतः जब जीव श्रेणि पर नहीं चढता तब मिश्र गुणस्थानका और सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः प्राप्त हो सकते हैं। बाकीके क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान

---

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा० ६४, तथा पञ्चसंग्रह गा० ९३। उपशम०।

एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर होता है।

उत्कृष्ट अन्तर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका एकसौ बत्तीस सागर है, जो इस प्रकार है—कोई जीव विशुद्ध परिणामोंके कारण मिथ्यात्वगुणस्थानको छोड़कर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यग्मिथ्यात्वमें चला जाता है। वहाँसे पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके छियासठ सागरकी समाप्तितक यदि उसने मुक्ति लाभ नहीं किया तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्वमें जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस सागरसे कुछ अधिक होता है। सास्वादनसे लेकर उपशान्तमोह तक बाकीके गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त है। क्योंकि इन गुणस्थानोंसे भ्रष्ट होकर जीव अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसके बाद उसे पुनः उक्त गुणस्थानोंकी प्राप्ति होती है। अतः इन गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त होता है। बाकीके क्षीणमोह वगैरह गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, यह पहले कह ही आये हैं।[1]

सास्वादनका जघन्य अन्तर पल्योपम कालके असंख्यातवें भाग बतलाया है। अतः पल्योपमकालका स्वरूप विस्तारसे कहते हैं—

उद्धारअद्धखित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी गुणस्थानोंका अन्तर इतना ही बतलाया है। यथा—
"पलियासंखो सासायणंतर सेसयाण अंतमुहू।
मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराण पोग्गलद्धंतो ॥ ९५ ॥"

अर्थ—पल्योपम तीन प्रकारका होता है—उद्धार पल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र पल्योपम । उद्धार पल्योपममें प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाता है और उससे द्वीप और समुद्रोंकी संख्या मालूम की जाती है। अद्धा पल्योपममें सौ सौ वर्षके बाद एक एक बालाग्र निकाला जाता है, और उसके द्वारा नारक तिर्यञ्च आदि चारों गतियोंके जीवोंकी आयुका परिमाण जाना जाता है । क्षेत्रपल्योपममें प्रति समय बालाग्रसे स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट एक एक आकाश प्रदेश निकाला जाता है और उसके द्वारा त्रस आदि कायाका परिमाण जाना जाता है ।

भावार्थ—इस गाथामें पल्योपमके भेद, उनका स्वरूप और उनकी उपयोगिताका संक्षेपमें निर्देश किया है । किन्तु **अनुयोगद्वार प्रवचनसारोद्धार** वगैरहमें उनका स्वरूप विस्तारसे बतलाया है । अत गाथामें सूत्ररूपसे कही गई बातोंका स्पष्टरूपसे समझानेके लिये, उक्त ग्रन्थोंके आधारपर पल्योपम वगैरहका स्वरूप बतलाया जाता है ।

गाथा ४०-४१में क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाते हुए प्राचीन कालगणनाका थोड़ा सा निर्देश कर आये हैं, और समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्तका स्वरूप बतला आये हैं । तथा ३० मुहूर्तका एक दिनरात, पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष, दो पक्षका एक माह, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, और दो अयनका एक वर्ष तो प्रसिद्ध ही हैं । वर्षोंकी अमुक अमुक संख्याको लेकर प्राचीन कालमें जो संज्ञाएँ निधारित की गई थी, वे इस प्रकार हैं—८४ लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग,

१ गा० १०७, सू० १३८ । २ पृ०३०२ । ३ द्रव्यलोक० पृ० ४ ।

४ ये संज्ञाएँ अनुयोगद्वारके अनुसार दी गई हैं । ज्योतिष्करण्डके अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख पूर्वका एक लताङ्ग, ८४ लाख लताङ्गका एक लता ८४ लाख लताका एक महालताङ्ग, ८४ लाख महालताङ्गका एक महालता, इसी प्रकार

चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वका एक त्रुटिताङ्ग, चौरासी लाख त्रुटिताङ्गका एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटितका एक अडडाङ्ग, चौरासी लाख अडडाङ्गका एक अडड, इसी प्रकार क्रमशः अववाङ्ग, अवव, हुहुअङ्ग हुहु, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अर्थनिपूराङ्ग, अर्थनिपूर, अयुताङ्ग, अयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, नयुताङ्ग, नयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुण होते हैं। इन सज्ञाओंको बतलाकर अनुयोगद्वारमें आगे लिखा है-- 'एतावता चेव गणिए, एतावता चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवर ओवमिए पवत्तइ।" (सू० १३७)

अर्थात्-'शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करनेसे १९४ अङ्क प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है गणितकी अवधि वहाँ तक है, उतनी ही राशि

आगे नलिनाङ्ग नलिन महानलिनाङ्ग, महानलिन, पद्माङ्ग पद्म, महापद्माङ्ग, महापद्म, कमलाङ्ग कमल, महाकमलाङ्ग महाकमल, कुमुदाङ्ग कुमुद, महाकुमुदाङ्ग महाकुमुद त्रुटिताङ्ग, त्रुटित महात्रुटिताङ्ग महात्रुटित, अडडाङ्ग, अडड, महाअडडाङ्ग, महाअडड, ऊहाङ्ग, ऊह, महाऊहाङ्ग, महाऊह शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्षप्रहेलिकाको समझना चाहिये। (गा० ६४७१)

कालोकप्रकाशके अनुसार अनुयोगद्वार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह माथुर वाचनाके अनुगत हैं और ज्योतिष्करण्ड वगैरह वल्भी वाचनाके अनुगत हैं। इससे दोनोंकी गणनाओंमें अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थ त० राजवार्तिकमें (पृ० १४०) पूर्वाङ्ग पूर्व नयुताङ्ग नयुत कुमुदाङ्ग, कुमुद पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग नलिन, कमलाङ्ग, कमल तुट्याङ्ग, तुट्य अटटाङ्ग, अटट अममाङ्ग, अमम, हूहूअङ्ग हूहू, लताङ्ग लता महालता प्रभृति संज्ञाएँ दी हैं।

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है। यथा--"अउए, नउए पउए।' पृ० ७१ उ०।

गणितका विषय है। उससे आगे उपमा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है।'

इसका आशय यह है कि जैसे लोकमें जो वस्तुएँ सरलतासे गिनी जा सकती है, उनकी गणनाकी जाती है। जो वस्तुएँ, जैसे तिल,सरसों वगैरह, गिनी नहीं जा सकता, उन्हें तोल या माप वगैरहसे आक लेते हैं। उसी तरह समयकी जो अवधि वर्षोंके रूपमें गिनी जा सकती है, उसकी तो गणनाकी जाती है और उसके लिये पूर्वाङ्ग पूर्व वगैरह संज्ञाएँ कल्पितकी गई हैं। किन्तु जहाँ समयकी अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षोंमें नहीं की जा सकती तो उसे उपमाप्रमाणके द्वारा जाना जाता है। उस उपमा प्रमाणके दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। अनाज वगैरह भरनेके गोलाकार स्थानको पल्य कहते हैं। समयकी जिस लम्बी अवधिको उस पल्यकी उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है। पल्योपमके तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र-पल्योपम। इसी प्रकार सागरोपम कालके भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरोपम, अद्धासागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमेंसे प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो प्रकारका होता है—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

उत्सेधाङ्गुलके द्वारा निष्पन्न एक योजनप्रमाण लम्बा, एक योजन

---

१ अनुयोगद्वारमें सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं।

२ अङ्गुलके तीन भेद हैं-आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल।

जिस समयमें जिन पुरुषोंके शरीरकी ऊचाई अपने अङ्गुलसे १०८ अङ्गुलप्रमाण होती है, उन पुरुषोंका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहलाता है। इस अङ्गुलका प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता, क्योंकि कालभेदसे मनुष्योंके शरीरकी ऊचाई घटती बढ़ती रहती है। उत्सेधाङ्गुलका प्रमाण-परमाणु दो प्रकारका होता है-एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहारपरमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओंका एक व्यवहारपरमाणु होता है। यह व्यवहार-

परमाणु वास्तवमें तो एक स्कन्ध ही है, किन्तु व्यवहारमें इसे परमाणु कहते हैं क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्णसे तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, तथा आगेके सभी मापोंका इसे मूलकारण कहा गया है। अनन्त व्यवहार परमाणुओंका एक उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका और आठ उत्श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका का एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है। (जीवसमाससूत्रमें अनन्त उत्श्लक्ष्ण० का एक श्लक्ष्ण० बतलाई है किन्तु आगममें अनेक स्थलोंपर इसे अठगुणी ही बतलाया है। लो० प्र०, १ स०, पृ०, २ पृ०) आठ श्लक्ष्ण० का एक उर्ध्वरेणु, ८ उर्ध्वरेणुका १ त्रसरेणु आठ त्रसरेणुका १ रथरेणु, (कहीं कहीं 'परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु' ऐसा क्रम पाया जाता है। (देखो ज्योतिष्क० गा० ७४) किन्तु प्रवचनसा० के व्याख्याकार इस असङ्गत कहते हैं। यथा-'इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु परमाणु रथरेणु त्रसरेणु' इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासङ्गत एव लक्ष्यते।' पृ० ४०६ उ०)

आठ रथरेणुका देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्यका एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक पूर्वापरविदेहके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्योंका केशाग्र उन आठ केशाग्रोंकी एक लीख आठ लीखकी एक यूका (जूं) आठ यूकाका एक यवका मध्यभाग और आठ यवमध्यका एक उत्सेधाङ्गुल होता है। तथा, ६ उत्सेधाङ्गुलका एक पाद, दो पादकी एक वितस्ति दो वितस्तिका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष दो हजार धनुषका एक गव्यूत, और चार गव्यूतका एक योजन होता है। उत्सेधाङ्गुल से अढ़ाईगुणा विस्तार और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणाङ्गुल होता है युगके आदिमें भरत

चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य=गढ़ा बनाना चाहिये जिसकी परिधि कुछ कम ३¹⁄₆ योजन होती है। एक दिनसे लेकर सातें दिन तकके

चक्रवर्तीका जो आत्माङ्गुल था, वही प्रमाणाङ्गुल जानना चाहिये। अनुयोग० पृ० १५६-१७२ प्रवचनसा० पृ० ४०५-८, द्रव्यलोक० पृ० १-२। दिगम्बर परम्परामें अङ्गुलोंका प्रमाण इसप्रकार बतलाया है–अनन्तानन्त सूक्ष्मपरमाणुओंकी एक उत्सन्नासन्ना, आठ उत्सन्नासन्नाका एक सन्नासन्ना, आठ सन्नासन्नाका एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु, का एक रथरेणु आठ रथरेणुका उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका रम्यक और हरिवर्षके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का भरत, ऐरावत और विदेहके मनुष्यका एक वालाग्र, शेष पूर्ववत्। उत्से धाङ्गुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणाङ्गुल होता है। यही भरत चक्रवर्तीका आत्मा ङ्गुल है। त० राजवार्तिक पृ० १४७-१४८।

१ अनुयोगद्वारमें 'एगाहिअ वेआहिअ, तेआहिय जाव उक्कोसेण सत्तरत्तरूढाण　　वालग्गकोडीण' (पृ० १८० पू०) लिखा है। प्रवचन सारोद्धारमें भी इससे मिलता जुलता ही पाठ है। दोनोंकी टीकामें इसका अर्थ किया है कि सिरके मुडादेने पर एक दिनमें जितने बड़े वाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं, दो दिनके निकले वाल द्वयाहिक्य, तीन दिनके वाल त्र्याहिक्य, इसी तरह सात दिन तकके उगे हुए वाल लेने चाहिये। द्रव्यलोकप्रकाशमें इसके बारेमें लिखा है कि उत्तरकुरुके मनुष्योंका सिर मुड़ादेनेपर एकसे सात दिनतकके अन्दर जो केशाग्रराशि उत्पन्न हो वह लेनी चाहिये। उसके आगे पृ० ४ पू० में लिखा है–

"क्षेत्रसमासबृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचन सारोद्धारवृत्तिसङ्ग्रहणीबृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्या

महोम्या यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणि इत्यादि सामान्येन मथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'क्षेत्रविचारे क्षेत्रविचारस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरुत्पन्नसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रैकशतद्विपञ्चाशत्प्रमितखण्डभाव प्राप्यते, तादृशैः रोमखण्डैरेव पल्यो भ्रियते इत्यादिरर्थतः सम्प्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम्।"

अर्थात् क्षेत्रसमासकी बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी वृत्तिका यह अभिप्राय है अथात् उनमें उत्तरकुरुके मनुष्यके केशाग्र बतलाये हैं। प्रवचनसारो की वृत्ति और संग्रहणीकी बृहद्वृत्तिमें सामान्यसे सिरके मुड़ादेनेपर एकसे लेकर सात दिनतकके उगे हुए बालोंका ग्रहण किया है-उत्तर कुरुके मनुष्यके बालाग्रोंका ग्रहण नहीं किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि देवकुरु उत्तरकुरुमें जन्मे सात दिनके मेष (भेड़) के उत्सेधाङ्गुलप्रमाण रोमको लेकर उसके सात बार आठ आठ खण्ड करना चाहिये। अर्थात् उस रोमके आठ खण्ड करके पुनः एक एक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। उन खण्डोंमेंसे भी प्रत्येक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। ऐसा करते करते उस रोमके बीस लाख सतानवे हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खण्ड होते हैं। इस प्रकारके खण्डोंसे उस पल्यको भरना चाहिये।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ० ७९) में भी 'एगाहिअ बेहिअ तेहिअ उक्कोसेण सत्तरत्तपरूढाणं वालग्गकोडीणं' ही पाठ है। किन्तु टीकाकारने उसका अर्थ-'वालेषु अग्राणि श्रेष्ठानि वालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेषां कोटय अनेका कोटीकोटीप्रमुखा सख्या' किया है। जिसका आशय है-' अग्र=श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्योंके बाल, उनकी कोटिकोटि। टीकाकारने बालसामान्यसे कुरुभूमिके मनुष्योंके बालोंका ग्रहण

उगे हुए बालाग्रोंसे उस पल्यको इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जलका ही उसमें प्रवेश हो सके। उस पल्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाय। इस तरह करते करते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उस कालको बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। दस कोड़ीकोड़ी बादर उद्धार पल्योपमका एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इन बादर उद्धारपल्योपम और बादर उद्धार सागरोपमका केवल इतना ही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलतासे समझमें आ जाते हैं।

बादर उद्धारपल्यके एक एक केशाग्रके अपनी बुद्धिके द्वारा असंख्यात असंख्यात टुकड़े करना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध आँखोंवाला पुरुष अपनी आँखसे जितने सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यको देखता है, उसके भी असंख्यातवें भाग होते हैं। तथा

किया है। दिगम्बर साहित्यमें 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविवालाग्राणि' लिखकर 'एक दिनसे सात दिनतकके जन्मे हुए मेषके बालाग्र ही लिये हैं।

१ इसके बारेमें द्रव्यलोकप्रकाश (१ सर्ग) में इतना और भी लिखा है–

"तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता।
न मनाक् क्रियते नीचैरेव निबिडताऽगतात् ॥ ८२॥"

अर्थात्–'वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्रवर्तीकी सेना उनपरसे निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।'

२ "अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि।
अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥८६॥"

द्रव्यलोक० (१ सर्ग)

खण्डका अग्रभागके सूक्ष्म पनक[1] जीवका शरीर जितने क्षेत्रको रोकता है, उससे असंख्यातगुणा अवगाहनावाले होते हैं। इन केशाग्रोंसे पहलेकी ही तरह पल्यमें ठसाठस भर देना चाहिये। पहले ही की तरह प्रति समय केशाग्रके एक एक खण्डको निकालने पर संख्यात करोड़ वर्षमें वह पल्य खाली होता है। अतः इस कालको सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्यका एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपमसे द्वीप और समुद्रोंकी गणना की जाती है। अढ़ाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपमके अथवा पच्चीस कोटी-कोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपमके जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये। पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक केशाग्र निकालनेपर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको बादर अद्धा पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर अद्धा पल्योपमकालका एक बादर अद्धा सागरोपमकाल होता है। तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्यमेंसे सौ सौ वर्षके बाद केशाग्रका एक एक खण्ड निकालने पर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको सूक्ष्म अद्धा

१ इसका विशेषावश्यकभाष्यकी कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ० २१०)में वनस्पतिविशेष अर्थ किया है। प्रवचनसारोद्धारकी टीकामें (पृ० ३०३) लिखा है कि वृद्धोंने बादर पर्याप्तक पृथिवीकायके शरीरके बराबर उसकी अवगाहना बतलाई है। यथा—"वृद्धास्तु व्याचक्षते-बादरपर्याप्तपृथिवीकायशरीरतुल्यमिति। तथा चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसूरि—'बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसंख्येयखण्डानि' इति वृद्धवाद।"

२ 'एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ। ... ण भंते! दीवसमुद्दा जावइआणं अड्ढाइज्जाण उद्धारसाग

पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपमका एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकाल होता है। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकी एक अवसर्पिणी और उतनेकी ही एक उत्सर्पिणी होता है। इन सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपमके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंकी आयु, कर्मोंकी स्थिति वगैरह जानी जाती है।

पहलेकी ही तरह एक योजन लम्बे चौड़े और गहरे गढेमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके उगे हुए बालके अग्र भागको पहले की तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें, उनमेंसे प्रति समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें समस्त प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको बादर क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। यह काल असख्यात उत्सर्पिणी और असख्यात अवसर्पिणीकालके बराबर होता है। दस कोटीकोटी बादरक्षेत्र पल्योपमका एक बादरक्षेत्र सागरोपम काल होता है।

बादरक्षेत्र पल्यके बालाग्रोंमेंसे प्रत्येकके असख्यात खण्ड करके उन्हें उसी पल्यमें पहले ही की तरह भर दो। उस पल्यमें वे खण्ड आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें और जिन प्रदेशोंको स्पर्श न करें, उनमसे प्रति

---

१ एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहिं किं पओअण ? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो० नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाण आउअ मविज्जइ। अनुयोग० सू० १३८ पृ० १८३।

२ यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रोंसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो बालाग्रोंका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस शङ्का और उसके समाधानका चित्रण अनुयोगद्वारकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"आह–यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि बालाग्रैः किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रत सामान्येनैव

समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटी कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम-का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। इन सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इस प्रकार पल्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।

वत्सुचित स्यात्। सत्य किन्तु प्रस्तुतपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते तानि च कानिचित् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगि स्याद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति।" पृ० १९३ पृ०।

शङ्का-यदि आकाशके स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशोंका ग्रहण करना है तो वालाग्रोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि उस दशामें पूर्वोक्त पल्यके अन्दर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है?

समाधान-आपका कहना ठीक है, किन्तु प्रस्तुत पल्योपमसे दृष्टिवादमें द्रव्योंके प्रमाणका विचार किया जाता है। उनमेंसे कुछ द्रव्योंका प्रमाण तो उक्त वालाग्रोंसे स्पृष्ट आकाशके प्रदेशोंके द्वाराही मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाशके अस्पृष्ट प्रदेशोंसे मापा जाता है। अतः दृष्टिवादमें वर्णित द्रव्योंके मानमें उपयोगी होनेके कारण वालाग्रोंका निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है।

१ एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जति।' अनुयोग० सू० १४० पृ० १९३ पृ०।

२ दिगम्बर साहित्यमें पल्योपमका जो वर्णन मिलता है वह उक्त वर्णन

से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्र पल्योपम नामका कोई भेद नहीं है और न प्रत्येक पल्योपमके बादर और सूक्ष्म भेद ही किये हैं। संक्षेपमें पल्योपमका वर्णन इस प्रकार है–

पल्य तीन प्रकारका होता है-व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों नाम सार्थक हैं–शेष दो पल्योंके व्यवहारका मूल होनेके कारण पहले पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। अर्थात् व्यवहारपल्यका केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपल्य और अद्धापल्यकी सृष्टि होती है, इसके द्वारा कुछ मापा नहीं जाता। उद्धारपल्यसे उद्धृत रोमोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी संख्या जानी जाती है, इसलिये उसे उद्धारपल्य कहते हैं। और अद्धापल्यके द्वारा जीवोंकी आयु वगैरह जाना जाती है इसलिये उसे अद्धापल्य कहते हैं। इनका प्रमाण निम्न प्रकार है–

प्रमाणाङ्गुलसे निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन गढ्ढे बनाओ। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके मेषके रोमके अग्रभागोंको कैंचीसे काट काट कर इतने छोटे छोटे खण्ड करो कि फिर वे कैंचीसे न काटे जा सकें। इस प्रकारके रोम खण्डोंसे पहले पल्यको खूब ठसाठस भर देना चाहिये। उस पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। उस व्यवहारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो उसे व्यवहारपल्योपम कहते हैं। व्यव हारपल्यके एक एक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा उतने खण्ड करो जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्यमें भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं। उस पल्यमें से प्रतिसमय एक एक खण्ड निकालते निकालते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उसे उद्धार पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी उद्धारपल्योपमका एक उद्धार सागरोपम होता है। अढ़ाई उद्धार सागरमें जितने रोमखण्ड होते हैं उतने

सास्वादन आदि गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त बतलाया है। अतः तीन गाथाओंके द्वारा पुद्गल परावर्तका वर्णन करते हुए पहले उसके भेद और परिमाणको कहते हैं—

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

अर्थ—पुद्गल परावर्तके चार भेद हैं—द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्त, काल पुद्गल परावर्त, और भाव पुद्गल परावर्त। इनमें से प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं—बादर और सूक्ष्म। यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी कालके बराबर होता है।

ही द्वीप और समुद्र जानने चाहियें।

उद्धारपल्यके रोम खण्डोंमेंसे प्रत्येक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा पुनः उतने खण्ड करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं। और उन खण्डों को तीसरे पल्यमें भरदो। उसे अद्धापल्योपम कहते हैं। उसमेंसे प्रति समय एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो, उस अद्धा पल्योपम कहते हैं। दस कोटी कोटी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है। दस कोटी कोटी अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धापल्यसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

सर्वार्थसिद्धि पृ० १३२ त० राजवार्तिक पृ० १४८ त्रिलोकसार गा० ९३–१०२।

१ पञ्चसंग्रहमें भी पुद्गलपरावर्तके चार भेद और उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद बतलाये हैं—

'पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥ ७१ ॥

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलपरावर्तके भेद और पुद्गलपरावर्तकाल का प्रमाण सामान्यसे बतलाया है। एक पुद्गलपरावर्तकालमें अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाती हैं। इन परावर्तों का स्वरूप आगे बतलाते हैं।

पहले बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप कहते हैं—

उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

अर्थ—जितने कालमें एक जीव समस्तलोकमें रहनेवाले समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं।[1] और जितने कालमें समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओंमें से किसी एक वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

भावार्थ—गाथा ७५ ७६ के व्याख्यानमें बतला आये हैं कि यह लोक अनेक प्रकारकी पुद्गलवर्गणाओंसे भरा हुआ है। तथा, वहींपर उन वर्गणाओंका स्वरूप भी बतला आये हैं। उन वर्गणाओंमें आठ वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवके द्वारा ग्रहणकी जाती हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके

---

१ द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप पञ्चसङ्ग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाया है—
'संसारम्मि अडंतो, जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीव मुयइ बायर, अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥ ७२ ॥"
अर्थ—संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव, जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़देता है, उतने कालको बादर पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और किसी एक शरीरके द्वारा जब समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है तो उसे सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उनसे अपना शरीर, वचन, मन वगैरहकी रचना करता है। वे वर्गणाएँ हैं— औदारिकग्रहणयोग्य वर्गणा, वैक्रियग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषाग्रहणयोग्य वर्गणा, आनप्राणग्रहण योग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा। जितने समयमें एक जीव समस्त परमाणुओंको अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्मणशरीररूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। यहाँ आहारक शरीरको छोड़ दिया है, क्योंकि आहारकशरीर एक जीवके अधिकसे अधिक चार बार ही हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्तके लिए उपयोगी नहीं है।[1]

तथा, जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समयको सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। आशय यह है कि बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तमें तो समस्त परमाणुओंको सातरूपसे भोग कर छोड़ता है और सूक्ष्ममें उन्हें केवल किसी एक रूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओंको एक औदारिकशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको वैक्रिय आदि शरीररूप ग्रहण करके छोड़दे, या समस्त परमाणुओंको वैक्रियशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको

१ 'आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ॥'

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ 'एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यज्यन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्त त एव गण्यन्ते।' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

औदारिक आदि शरीररूपसे ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते। जिस शरीररूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीररूप जो पुद्गलपरमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हींका सूक्ष्ममें ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तके बारेमें एक दूसरा मत भी है जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गलपरमाणुओंको औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन चार शरीररूप ग्रहण करके छोड़ देनेमें जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और समस्त पुद्गलपरमाणुओंको उक्त चारों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीररूप परिणमा कर छोड़ देनेमें जितना काल लगता है उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

द्रव्यपुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर अब शेष तीन पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप बतलाते हैं—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य।
जह तह कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अर्थ—एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंको

---

१ "अहव इमो दव्वाइ ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं।
नीसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो ॥ ४१ ॥"

प्रवचन० पृ० ३०७ उ०।

"एके तु आचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति"। प०कर्म० स्वोपज्ञ टी०पृ० १०३।

क्रमसे या बिना क्रमके, जैसे बने तैसे, जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहते हैं। एक जीव अपने मरणके द्वारा, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको, क्रमसे या बिना क्रमके जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, एक जीव अपने मरणके द्वारा, क्रमसे या बिना क्रमके, अनुभागबन्धके कारणभूत समस्त कषायस्थानोंका जितने समयमें स्पर्श कर लेता है उसे बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके प्रदेशोंको, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समयोंको, तथा अनुभागबन्धके कारणभूत कषायस्थानोंको क्रमसे जितने जितने समयमें स्पर्श करता है, उन्हें क्रमशः सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मकाल पुद्गलपरावर्त और सूक्ष्मभाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं। अर्थात् उक्त तीनों—प्रदेश, समय और कषायस्थानको—यदि अक्रमसे स्पर्श करता है तो बादर पुद्गलपरावर्त होता है और यदि क्रमसे स्पर्श करता है तो सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बाकीके तीनों पुद्गलपरावर्तोंके दोनों प्रकारोंका स्वरूप बतलाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

कोई एक जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरा, वही जीव, पुनः आकाशके किसी दूसरे प्रदेशमें मरा, फिर तीसरेमें मरा, इस प्रकार जब वह लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें मर चुकता है तो उतने कालको बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा कोई जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः उस प्रदेशके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेशमें मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशमें मरण करते करते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त होता है। इन दोनों क्षेत्रपुद्गलपरावर्तोंमें केवल इतनाही

अन्तर है कि बादरमें तो क्रमका विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यवहित प्रदेशमें मरण करनेपर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहां क्रमसे या बिना क्रमके समस्त प्रदेशोंमें मरणकर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्ममें समस्त प्रदेशोंमें क्रमसे ही मरण करना चाहिये। अक्रमसे जिन प्रदेशोंमें मरण होता है उनकी गणना नहींकी जाती। इससे स्पष्ट है कि पहलेसे दूसरेमें समय अधिक लगता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तके सम्बन्धमें एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीवकी जघन्य अवगाहना लोकके असंख्यातवें भाग बतलाई है। अतः यद्यपि एक जीव लोकाकाशके एक प्रदेशमें नहीं रह सकता, तथापि किसी देशमें मरण करनेपर उस देशका कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस विवक्षित प्रदेशसे दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशोंमें मरण करता है तो वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब कभी विवक्षित प्रदेशके अनन्तर जो प्रदेश है, उसीमें मरण करता है, तो वह गणनामें लिया जाता है। किन्हीं किन्हींका मत है कि लोकाकाशके जिन प्रदेशोंमें मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता।[1]

जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमवार या बिना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादर काल पुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी कालके पहले समयमें मरा, पुनः उसके दूसरे समयमें मरा, पुनः तीसरे समयमें मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त कहते

१ "अन्ये तु व्याचक्षते–यत्राकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्त सर्वेऽपि आकाशप्रदेशा गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षित कश्चिदेकएवाकाशप्रदेश इति ॥" प्रवचन० टी०, पृ० ३०९ उ०।

हैं। यहा भी समयोंकी गणना क्षेत्रकी तरह क्रमवार ही की जाती है, व्यव हितकी गणना नहींकी जाती। आशय यह है कि कोइ जीव अवसर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोटीकोटी सागरके बीत जानेपर जब पुन अवसर्पिणीकाल प्रारम्भ हो उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समयम मरे तो वह द्वितीय समय गणनामें लिया जाता है। मध्यके शेष समयोंमें उसकी मृत्यु होनेपर भी वे गणनाम नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उस अवसर्पिणीके द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त न हो, किन्तु अन्य समयमें मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीतनेपर भी जब कभी अवसर्पिणीके दूसरे समयम ही मरता है, तब उस समयका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें मरण करके जितने समयम उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें मरण कर चुकता है, उस कालको सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

तरतम भेदको लिये हुए अनुभागबन्धस्थान असख्यात लोकाकाश-के प्रदेशोंकी सख्याके बराबर हैं। उन अनुभागबन्धस्थानोंमेंसे एक एक अनुभागबन्धस्थानमें क्रमसे या अक्रमसे मरण करते करते जीव जितने समयमें समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरण कर चुकता है, उतने समयको बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, सबसे जघन्य अनुभागबन्ध-स्थानमें वर्तमान कोइ जीव मरा, उसके बाद उस स्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानम वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानम मरा। इसप्रकार क्रमसे जब समस्त अनुभाग-बन्धस्थानोंमें मरणकर लेता है तो सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्त कहाता है। यहा पर भी कोइ जीव सबसे जघन्य अनुभागस्थानमें मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब प्रथम अनुभागस्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानम मरण करता है, तभी वह मरण गणनामें लिया जाता

है। किन्तु अक्रमसे होनेवाले अनन्तानन्त मरण भी गणनामें नहीं लिये जाते। इसी तरह कालान्तरमें द्वितीय अनुभागबन्धस्थानके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें जब मरण करता है तो वह मरण गणनामें लिया जाता है। इसप्रकार बादर और सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप जानना चाहिये।

जैन वाङ्मयमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका बड़ा महत्त्व है। किसी भी विषयकी चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक उसमें उस विषयका वर्णन द्रव्य, क्षेत्र वगैरहकी अपेक्षासे न किया गया हो। यहां परिवर्तन का प्रकरण है। परिवर्तका अर्थ होता है–परिणमन अर्थात् उलटफेर, रद्दोबदल इत्यादि। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि यह संसार परिवर्तन या परिणमन शील है। उसी परिवर्त या परिवर्तनका वर्णन यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे किया है। द्रव्यसे यहां पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया है, क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्तके साथ ही पुद्गल शब्द लगा हुआ है, और उसके ही द्रव्यपुद्गलपरिवर्त वगैरह चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीवके परिवर्तन या संसारपरिभ्रमणका कारण एक तरहसे पुद्गल द्रव्य ही है, संसारदशामें उसके बिना जीव रह ही नहीं सकता। अस्तु, उस पुद्गलका सबसे छोटा अणु परमाणु ही यहां द्रव्य-

१ पञ्चसंग्रहमें भी क्षेत्र, काल और भाव पुद्गलपरावर्तका स्वरूप तीन गाथाओंसे इसी प्रकार बतलाया है। गाथाएँ निम्न हैं—

"लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
खेत्तम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ७३ ॥
उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ७४ ॥
अणुभागट्ठाणेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
भावम्मि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुक्कमसो ॥ ७५ ॥"

पदसे समाप्त है। (वह परमाणु आकाशके जितने भागमें समाता है उसे प्रदेश कहते हैं)। और (वह प्रदेश क्षेत्र अर्थात् लोकाकाशका हो, क्योंकि जीव लोकाकाशमें ही रहता है, एक अंश है)। (पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे उसीके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें जितने समयमें पहुँचता है, उसे समय कहते हैं)। यह कालका सबसे छोटा हिस्सा है। भावसे यहाँ अनुभागबन्धके कारणभूत जीवके कषायरूप भाव लिये गये हैं। इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके परिवर्तनसे उक्त चार परिवर्तनोंकी कल्पनाकी गई है। जब जीव पुद्गलके एक एक परमाणुको करके समस्त परमाणुओंका भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहाता है। जब आकाशके एक एक प्रदेशमें मरण करके समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तवमें जब जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है जिसे इसने न भोगा हो, आकाशका एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानोंको यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसीको दृष्टिमें रखकर द्रव्य पुद्गल-परावर्त आदि नामोंसे कालका विभाग कर दिया है। जो पुद्गलपरावर्त जितने कालमें होता है उतने कालके प्रमाणको उस पुद्गल परावर्तके नामसे पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गलपरावर्तनके सिवाय अन्य किसी भी परावर्तमें पुद्गलका परावर्तन नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र पुद्गलपरावर्तमें क्षेत्रका, काल पुद्गलपरावर्तमें कालका और भाव पुद्गलपरावर्तमें भावका परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गलपरावर्तका काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और

भाव परावर्तका काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अत इन परावर्तोंकी भी पुद्गलपरावर्त संज्ञा रख दी है।

---

१ "पुद्गलानां=परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त=परिणमनं यावति काले स तावान् काल पुद्गलपरावर्त । इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन एकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते । तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तना भावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तशब्द प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते ।"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ० ।

२ दिगम्बरसाहित्य में ये परावर्त पञ्चपरिवर्तनके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमश द्रव्यपरिवर्तन क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन हैं। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं-नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन। इनका स्वरूप निम्नप्रकार है-

नोकर्मद्रव्यप०-एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया और दूसरे आदि समयोंमें उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण करके और अनन्तवार ग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समयमें ग्रहण किये थे, उन्हीं भावोंसे उतने ही रूप, रस गन्ध और स्पर्शको लेकर जब उसी जीवके द्वारा पुन नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं तो उतने कालके परिमाण को नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्यप०-इसी प्रकार एक जीवने एक समय में आठ कर्मरूप होनेके योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय

आवलीके बाद उनकी निर्जरा करदी। पूर्वोक्त क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे जब उसी जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने कालको कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनको मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन होता है, और दोनोंमें से एक को अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन–सबसे जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मरगया। वही जीव उसी अवगाहनाको लेकर वहां दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहनाको लेकर वहां उत्पन्न हुआ और मरगया। उसके बाद एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंको अपना जन्म क्षेत्र बना लेता है, तो उतने कालको एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कालपरिवर्तन–एक जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी होजानेके बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणीकालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ। उत्पत्तिकी तरह मृत्युका भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इसी तरह पहली अवसर्पिणीके पहले समय में मरा दूसरी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इस प्रकार जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको अपने जन्म और मृत्युसे स्पृष्ट कर लेता है, उतने समयका नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन–नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। कोई जीव उतनी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। मरनेके बाद नरकसे निकलकर पुन उसी आयुको लेकर दुबारा नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार दसहजार वर्षमें जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयुको लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दसहजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार एक एक समय बढाते बढाते नरक गतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यञ्चगतिको लिया। तिर्यञ्चगतिमें अन्तमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयुको लेकर पुन तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अन्त मुहूर्तमें जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद पूर्वोक्त प्रकारसे एक एक समय बढाते बढाते तिर्यञ्चगति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्यञ्चगतिकी ही तरह मनुष्यगतिका काल पूरा किया और नरक गतिकी तरह देवगतिका काल पूरा किया। देव गतिमें केवल इतना अन्तर है कि ३१ सागरकी आयु पूरी करने पर ही भव परिवर्तन पूरा हो जाता है, क्योंकि ३१ सागरसे अधिक आयुवाले देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होते हैं, और वे एक या दो मनुष्य भवधारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गतिकी आयुको भोगनेमें जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन–कर्मोंकी एक एक स्थितिबन्धके कारण असख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थान हैं। और एक एक कषायस्थानके कारण असख्यातलोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान हैं। किसी पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध किया। उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान

निरवारसे पुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर, अब सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था। दूसरे समयमें वही स्थितिबन्ध वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा, किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बरका हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबन्ध, कषायस्थान और अनुभागस्थानके साथ श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानोंको पूर्ण किया। योगस्थानोंकी समाप्तिके बाद स्थितिबन्ध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभाग स्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होने पर उसी स्थितिबन्धके साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। पुन तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभाग स्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जानेपर उस जीवने एक समय अधिक अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध किया। उसके भी कषायस्थान अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक एक समय बढाते बढाते ज्ञाना वरणकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति पूरी की। इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है तब उतने कालको भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनोंमें क्रमका ध्यान रखा गया है। अक्रमसे जो क्रिया होती है वह गणनामें नहीं ली जाती। अर्थात् सूक्ष्म पुद्गलपरिवर्तनोंमें जो व्यवस्था है वही व्यवस्था यहाँ भी समझना चाहिये।

अर्थ—थोड़ी प्रकृतियोंका बाधनेवाला, उत्कृष्ट योगका धारक, पर्याप्त सज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबध करता है । और उससे विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियोंका बध करनेवाला, जघन्य योगका धारक, अपर्याप्त असज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है ।

भावार्थ—इस गाथामे यद्यपि उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेश-बधके स्वामीका निर्देश किया है, किन्तु उनमें जिन जिन बातोंका होना आवश्यक बतलाया है, उनसे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेश बधकी सामग्रीपर प्रकाश पड़ता है । उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कर्ताके लिये चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—एक तो वह थोड़ी प्रकृतियोंका बाधनेवाला होना चाहिये, क्योंकि पहले कर्मोंके बटवारेमें लिख आये हैं कि एक समयमें जितने पुद्गलोंका बध होता है, वे उन सब प्रकृतियोंमें विभाजित हो जाते हैं, जो उस समय बधती हैं । अत यदि बधनेवाली प्रकृतियोंकी सख्या अधिक होती है तो बटवारेमें प्रत्येकको थोड़े थोड़े दलिक मिलते हैं और यदि उनकी सख्या कम होती है तो बटवारेमें अधिक अधिक दलिक मिलते हैं । तथा, जैसे अधिक द्रव्यकी प्राप्तिके लिये भागीदारोंका कम होना आवश्यक है वैसेही अधिक आयका होना भी आवश्यक है । इसीलिए दूसरी आवश्यक बात यह बतलाई है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कर्ता उत्कृष्ट योगवाला भी होना चाहिये, क्योंकि प्रदेशबन्धका कारण योग है और योग यदि तीव्र होता है तो अधिक सख्यामें कर्मदलिकोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और यदि मन्द होता है तो कर्मदलिकोंकी सख्यामें भी कमी रहती है । अत उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके लिये उत्कृष्ट योगका होना आवश्यक है। तीसरी आवश्यक बात यह है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कर्ता पर्याप्तक होना चाहिये,

१ इस गाथाकी तुलना करो--

'अप्पतरपगइबन्धे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ २९८ ॥'' पञ्चस०।

किन्तु वहां उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता। अतः शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है।

मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सास्वादन और मिश्र गुणस्थानके सिवाय मिथ्यादृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानोंमें बतलाया है। सास्वादन और मिश्र

इस प्रकारका प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारणसे सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानोंमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाकर शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध वगैरह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बतलायेंगे। इससे भी पता चलता है कि सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। इस प्रकार सास्वादनमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाकर लिखा है-- 'अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्ट प्रदेशस्वामिन मिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम्।" अर्थात् 'इस लिये जो सास्वादनको भी आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी कहते हैं, उनका मत उपेक्षाके योग्य है।' इससे पता चलता है कि कोई कोई आचार्य सास्वादनमें आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको मानते थे।

१ मिश्र गुणस्थानमें उत्कृष्टयोग न होनेके सम्बन्धमें, निम्न युक्तियाँ स्वोपज्ञ टीकामें दी हैं। दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत गुणस्थानमें ही बतलाया है। यदि मिश्रमें भी उत्कृष्टयोग होता तो उसमें भी दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाया जाता। शायद कहा जाये कि अविरत गुणस्थानमें मिश्र गुणस्थानसे कम प्रकृतियाँ बधती हैं अतः अविरतको ही उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी बतलाया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि साधारण अवस्थामें अविरतमें भी सात ही कर्मोंका बन्ध होता है और मिश्रमें तो सात कर्मोंका बन्ध होता ही है। तथा अविरतमें भी मोहनीयकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध होता है और मिश्रमें भी उसकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध

गुणस्थानमें उत्कृष्ट योग नहीं होता, अत वहा उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी नहीं होता।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय का उत्कृष्ट-प्रदेशबंध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानमें होता है। सूक्ष्मसाम्परायमें उत्कृष्टयोग तो होता ही है। तथा, वहा मोहनीय और आयुकर्मका बंध भी नहीं होता, अत थोड़े कर्मोंका बंध होनेके कारण उसका ही ग्रहण किया है। तथा उत्तर प्रकृतियोंमें से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातवेदनीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तरायका उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है, क्योंकि ऊपर लिख आये हैं कि मोहनीय और आयुकर्मका बंध न होनेके कारण उनका भाग भी शेष छह कर्मोंको ही मिल जाता है। तथा, दर्शनावरणका भाग उसकी चार प्रकृतियोंको और नामकर्मका भाग उसकी एक प्रकृतिको मिल जाता है, अत उनका उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी वहीं होता है।

द्वितीय कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबंध अविरतसम्यग्दृष्टि करता है। इस गुणस्थानमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधीका बंध नहीं होता, अत उनका भाग भी शेषको मिल जाता है। तथा, तीसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबंध देशविरत गुणस्थानमें होता है, इस गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायका भी बंध नहीं होता, अत उनका द्रव्य भी शेषको मिलजाता है। इस प्रकार मूल प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबंधके स्वामियोंका निर्देश इस गाथामें किया है।

पण अनियट्टी सुखगइ-नराउ-सुर-सुभगतिग-विउव्विदुग।
समचउरसमसाय वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

होता है। अत मिश्रमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको न बतलानेमें उत्कृष्ट योगके अभावके सिवाय कोई दूसरा कारण प्रतीत नहीं होता।

अर्थ—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिबादर नामक गुणस्थानमें होता है। प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातवेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन तेरहप्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं। उनमसे पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवें गुणस्थानमें होता है क्योंकि छह नोकषायोंका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है। तथा पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छिति होनेके बाद संज्वलनचतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय और नोकषाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है। तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं।

निद्दा-पयला-दुजुयल भय-कुच्छा-तित्थ सम्मगो सुजई।
आहारदुग सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ—निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्थङ्कर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अर्थात् अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

भावार्थ—निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थान

से लेकर आठवें गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है, अतः सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। यद्यपि मिश्रमें भी स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, किन्तु वहां उत्कृष्ट योग भी नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं किया है।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्साका चौथे गुणस्थान-से लेकर आठवें गुणस्थानों तक जिन जिन गुणस्थानों में बन्ध होता है, उन गुणस्थानवाले उत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टि जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करते हैं। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इसी तरह आहारकद्विक का बन्ध भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें ही होता है। अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सम्यग्दृष्टिके ही बतलाया है। इस प्रकार ५४ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाकर शेष ६६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही बतलाया है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक, शुभद्विक, अयश कीर्ति, और निर्माण, इन पच्चीस प्रकृतियोंके सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां तो सम्यग्दृष्टिके बंधती ही नहीं हैं। उनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ यद्यपि सास्वादनमें बंधती हैं, किन्तु वहां उत्कृष्टयोग नहीं होता। अतः ४१ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्या-दृष्टि ही करता है। शेष पच्चीस प्रकृतियोंमेंसे औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नाम-कर्मके तेईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है और शेष दस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नामकर्मके पच्चीसप्रकृतिक बन्ध-

स्थानके बंधक जीवोंके ही होता है, शेषके नहीं होता। तथा तेइस और पचीस का बंध मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अतः शेष पचीस प्रकृतियों-का भी उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबंधके स्वामियोंका निर्देश किया है।

उत्कृष्ट प्रदेशबंधके स्वामियोंको बतलाकर अब जघन्य प्रदेशबंधके स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिग-सुराउ-सुर विउव्विदुग।
सम्मो जिण जहन्न सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

अर्थ—सुमुनि अर्थात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य प्रदेशबंध करते हैं। असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुका जघन्य प्रदेशबंध करते हैं। सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबंध सूक्ष्मनिगोदिया जीव प्रथम समयमें करता है।

भावार्थ—इस गाथामें जघन्य प्रदेशबंधके स्वामियोंको बतलाया है। सामान्यसे आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबंध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं। विशेषसे, जिस समयमें आठों कर्मोंका बंध करते हुए वे नामकर्मके इकतीसप्रकृतिक बंधस्थानका बंध करते हैं और योग भी जघन्य होता है, उस समय ही उनके आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबंध होता है। यद्यपि नामकर्मके तीसप्रकृतिक बंधस्थानमें भी आहारकद्विक सम्मिलित है, किन्तु इकतीसमें एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बटवारेके समय कम

१ कर्मकाण्ड गा० २११ से २१४ तकमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टप्रदेशबंधके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं।

द्रव्य मिलता है । इसलिये इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका निर्देश किया है। यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावर्तमान योग होना चाहिये।

इसी तरह परावर्तमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकद्विक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है, क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लिष्ट परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके। अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये। असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावर्तमान योगका ग्रहण किया है, क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता। अतः परावर्तमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता। अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अत वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें तो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है अत प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्कर सहित इकत्तीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अत तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानका ही बन्ध करते हैं। अत बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अत उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ से २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियों को बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारे में उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है-

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्-लब्ध्यपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेते समय, पहले मोड़ में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

जीव जन्मके प्रथम समयमें करता है, क्योंकि उसके प्राय सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, तथा सबसे जघन्य योग भी उसीके होता है।

जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाते हैं—

दंसणछग-भय-कुच्छा-बि-ति-तुरियकसाय विग्घनाणाणं।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिकके सिवाय दर्शनावरणकी शेष ६ प्रकृतियाँ, भय, जुगुप्सा, दूसरा अप्रत्याख्यानावरण कषाय, तीसरा प्रत्याख्यानावरण कषाय, चौथा संज्वलन कषाय, पाँच अन्तराय और पाँच ज्ञानावरण, इन उत्तर-प्रकृतियोंके तथा मोहनीय और आयुकर्मके सिवाय छह मूलप्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों भङ्ग होते हैं। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेष तीन बन्धोंके और अवशिष्ट प्रकृतियोंके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्यबन्ध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुवभङ्गोंका स्वरूप पहले बतला आये हैं, क्योंकि प्रत्येक बन्धके अन्तमें मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उनका विचार किया गया है। यहाँ भी प्रदेशबन्धमें उनका विचार किया है। सबसे अधिक कम स्कन्धा-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्ग इसीप्रकार बतलाये हैं यथा–

'मोहाउयवज्जाणं णुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥ २९० ॥
नाणंतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुंछाण।
दंसणचउपयलाणं चउव्विगप्पो अणुक्कोसो ॥ २९५ ॥
सेसा साइ अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं।'

के ग्रहण करनेम उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धम एक दो वगैरह स्कन्धोकी हानिसे लेकर सबसे कम कर्मस्कन्धोके ग्रहण करनेको अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदोमें प्रदेशबन्धके समस्त भेदोंका सग्रहण हो जाता है। तथा सबसे कम कर्म स्कन्धोके ग्रहण करनेको जघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं । और उसमें एक दो वगैरह स्कन्धोकी वृद्धिसे लेकर अधिकसे अधिक कर्मस्कन्धोके ग्रहण करनेको अजघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदोमें भी प्रदेशबन्धके सब भेद गर्भित हो जाते हैं।

उक्त गाथामें, दर्शनचतुष्क वगैरह प्रकृतियोंम अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके चारों भङ्ग बतलाये हैं, जिनका खुलासा इस प्रकार है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है, क्योंकि एक तो वहाँ मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, दूसरे निद्रापञ्चकका भी बन्ध नहीं होता। अत उन्हे बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करके कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें गया। वहाँसे गिरकर, दसवें गुणस्थानमें आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तो वह बन्ध सादि होता है। अथवा दसवें ही गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगके द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेके बाद जब वह जीव पुन अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि होता है। क्योंकि उत्कृष्टयोग एक, दो समयसे अधिक देर तक नहीं होता। उत्कृष्टबन्ध होनेसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीवका वही बन्ध ध्रुव है और भव्य जीवका बन्ध अध्रुव होता है।

निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, अत उनका भाग भी इन्हें मिलता है। उक्त गुणस्थानोंमेंसे किसी

एक गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जब जीव पुन अनुत्कृष्ट बन्ध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बन्धसे पहलेका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्साका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथेसे लेकर आठवे गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी पहलेकी ही तरह चार भङ्ग जानने चाहिये। इसी तरह अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सज्वलन कषाय, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तरायके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी चार-चार भङ्ग जानने चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि होता है। और उत्कृष्टबन्धके बाद जो अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, वह सादि होता है। भव्य जीवका वही बन्ध अध्रुव होता है और अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों भङ्ग होते हैं। किन्तु बाकीके उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भङ्ग बतलाते हुए यह बतला आये हैं कि अमुक अमुक प्रकृतिका अमुक अमुक गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने अपने गुणस्थानमें पहली बार होता है, अत सादि है। तथा, एक दो समय तक होकर या तो उसके बन्धका बिल्कुल अभाव ही हो जाता है, या पुन अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, अत अध्रुव है।

तथा उक्त तीस प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उसके बाद योगशक्तिके बढ़ जानेके कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। सख्यात या असख्यात कालके बाद जब उस जीवको पुन उस भवकी प्राप्ति होती है तो पुन जघन्य प्रदेशबन्ध होता है उसके बाद पुन अजघन्य प्रदेशबन्ध होता

प्रकारके अनुभाग बन्धके कारण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। अब योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तथा उनके कार्योंका परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

अर्थ—योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। योगस्थानोंसे असंख्यातगुने प्रकृतियोंके भेद हैं। प्रकृतियोंके भेदोंसे असंख्यातगुने स्थितिके भेद हैं। स्थितिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंसे असंख्यातगुणे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध हैं, और कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद हैं।

भावार्थ—बन्धके निरूपणमें दो वस्तुएँ मुख्य हैं—एक बन्ध और दूसरी उसके कारण। बन्ध चार हैं किन्तु उनके कारण तीन ही हैं, क्योंकि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण एक ही है। अतः बन्धके निरूपणमें उसके परिकरके रूपसे सात चीजें आती हैं—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, कर्मस्कन्ध अर्थात् प्रदेशभेद, रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद और उनके कारण योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तथा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान। उक्त गाथामें उनमें परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है अर्थात् यह बतलाया

1 पञ्चसङ्ग्रहमें भी इनका अल्पबहुत्व इसी तरह बतलाया है यथा—
'सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥ २८२ ॥
ठिइबंधज्झवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥ २८३ ॥"

है कि इन सातोंमें किसकी संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है?

योगस्थानोंकी संख्या श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाई है। श्रेणिका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उसके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही योगस्थान जानना चाहिये। पीछे गा० ५३ का व्याख्यान करते हुए बतला आये हैं कि योग, वीर्य या शक्तिविशेषको कहते हैं। उसके स्थान किस प्रकार होते हैं यहाँ इसे समझाते हैं। पहले बतला आये हैं कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें सबसे जघन्य योग होता है, अर्थात् अन्य जीवोंकी अपेक्षासे उसकी शक्ति या वीर्यलब्धि सबसे कम है। किन्तु सबसे कम वीर्यलब्धिके धारक उस जीवके कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्यवाले हैं, कुछ उनसे अधिक वीर्यवाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्यवाले हैं। यदि सबसे कम वीर्यवाले प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेशको केवलज्ञानीके ज्ञानके द्वारा देखा जाये तो उस एक प्रदेशमें असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर भाग पाये जाते हैं। तथा उसी जीवके अत्यधिक वीर्यवाले प्रदेशको उसी प्रकार यदि अवलोकन किया जाय तो उसमें उस जघन्यवीर्यवाले प्रदेशके भागोंसे भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं। इसीके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है—

"पण्णाए अविभाग जहण्णवीरियस्स वीरियं छिण्णं।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसंखलोगप्पएससमं ॥ ३९७ ॥"

अर्थात्—'सबसे जघन्यवीर्यवाले जीवके प्रदेशमें जो वीर्य है, बुद्धिके द्वारा उसका तबतक छेदन किया जाय जबतक अविभागी अंश न हो। एक एक प्रदेशमें ये अविभागी अंश असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर होते हैं।' वीर्यलब्धिके इन भागों या अविभागी अंशोंको वीर्यपरमाणु, भावपरमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। जीवके जिन प्रदेशोंमें ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम, किन्तु समान संख्यामें पाये जाते

है, उन प्रदेशोंकी एक वर्गणा होती है। उनसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी एक एक जुदी वर्गणा होती है। और, जब तक एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश पाये जाते हैं, वहाँ तककी वर्गणाओंके समूहको प्रथम स्पर्द्धक कहते हैं। उसके बाद जो प्रदेश मिलते हैं, उनमें प्रथम स्पर्द्धककी अन्तिम वर्गणाके प्रदेशोंमें जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, उनसे असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन जिन प्रदेशोंमें पाये जाते हैं, उनके समूहसे दूसरे स्पर्द्धककी प्रथम वर्गणा बनाना चाहिये। इस प्रथम वर्गणाके ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंका समूहरूप दूसरी वर्गणा होती है। इसप्रकार एक एक अविभागी प्रतिच्छेदकी वृद्धि करते करते ये वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवें भागके बराबर होती हैं। इनके समूहको दूसरा स्पर्द्धक कहते हैं। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश नहीं मिलते, किन्तु असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश ही मिलते हैं, उनसे पहले कहे हुए क्रमके अनुसार तीसरा स्पर्द्धक आरम्भ होता है। इसी तरह चौथा, पाँचवा वगैरह स्पर्द्धक जानना चाहिये। इन स्पर्द्धकोंका प्रमाण भी श्रेणिके असंख्यातवें भाग है। उनके समूहको एक योगस्थान कहते हैं।

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें ४२ गाथाओंसे योगस्थानका वर्णन किया है। उसके अनुसार—

'अविभागपडिच्छेदो वग्गो पुण वग्गणा य फड्डयगं।
गुणहाणि वि य जाणे ठाणं पडि होदि णियमेण ॥ २२१ ॥'

एक योगस्थानमें अविभागी प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक और गुण हानि, ये पाँच चीजें नियमसे होती हैं। अब इनका स्वरूप और प्रमाण

यह योगस्थान सबसे जघन्यशक्तिवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उससे कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे दूसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे तीसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे चौथा योगस्थान होता है। इस प्रकार इसी क्रमसे नाना जीवोंके अथवा कालभेदसे एक ही जीवके ये योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं।

शङ्का—जीव अनन्त हैं, अतः योगस्थान भी अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सब जीवों का योगस्थान जुदा जुदा ही नहीं होता, अनन्त स्थावर जीवोंके समान योगस्थान होता है, तथा असंख्यात त्रसोंके भी समान योगस्थान होता है। अतः निसदृश योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

सुनिये-

"पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे।
गुणहाणिफड्डयाओ असंखभागं तु सेढीये ॥ २२४ ॥
फड्डयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा।
एक्केक्कवग्गणाए असंखपदरा हु वग्गाओ ॥ २२५ ॥
एक्कक्कं पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं ॥ २२६ ॥"

अर्थात्—'एक योगस्थानमें पल्यके असंख्यातवें भाग गुणहानियाँ होती हैं। एक गुणहानिमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्द्धक होते हैं। एक एक स्पर्द्धकमें उतनी ही वर्गणाएँ होती हैं। एक एक वर्गणामें असंख्यात जगत् प्रतर प्रमाण वर्ग होते हैं। और एक एक वर्ग में असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। प्रदेशोंमें जो जघन्य वृद्धि

इन योगस्थानोंसे असंख्यातगुणे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंके भेद होते हैं। यद्यपि मूलप्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ बतलाई हैं, किन्तु बन्धकी विचित्रतासे एक एक प्रकृति के अनेक भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, एक अवधिज्ञान को ही ले लीजिये। शास्त्रमें अवधिज्ञानके बहुतसे भेद बतलाये हैं। अतः अवधिज्ञानावरणके बन्धके भी उतने ही भेद होते हैं, क्योंकि बन्धकी विचित्रतासे ही क्षयोपशममें अन्तर पड़ता है और क्षयोपशममें अन्तर पड़नेसे ही ज्ञानके अनेक भेद हो जाते हैं। शायद कोई कहे कि अनेक भेद होने पर भी असंख्यात भेद किस तरह हो जाते हैं? तो इसके लिये हमें पुनः अवधिज्ञानके भेदों पर एक दृष्टि डालनी होगी। सूक्ष्म पनकजीवकी तीसरे समय में जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है। और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्यक्षेत्रसे लेकर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट अवधिज्ञानके क्षेत्र तक क्षेत्रकी हीनाधिकताके कारण अवधिज्ञानके असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसलिये अवधिज्ञानके आवारक अवधिज्ञानावरण कर्मके भी बन्ध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसी

होती है अर्थात् जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्तिके अंशको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं।' इस रीतिसे प्रत्येकमें प्रत्येकका प्रमाण बतलाया है। इसीको यदि उलट क्रमसे कहें तो–अविभागीप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग, वर्गों का समूह वर्गणा, वर्गणाओंका समूह स्पर्द्धक, स्पर्द्धकोंका समूह गुणहानि और गुणहानियोंका समूह योगस्थान–इसप्रकार प्रत्येकका स्वरूप मालूम होजाता है। इसके अनुसार प्रत्येक प्रदेश एक एक वर्ग है, क्योंकि उसमें बहुतसे अविभागी अंश रहते हैं। गाथा २२९ की संस्कृतटीका तथा बाल बोधनी भाषाटीकामें योगस्थान और उसके अङ्गोंका विस्तारसे कथन किया है, जो उपर्युक्त कथनसे विपरीत नहीं है।

प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षासे नाकी उत्तरप्रकृतियों और मूल प्रकृतियोंके भी बन्ध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहाँ पर भी जीवोंके अनन्त होनेके कारण उनके बन्ध और उदयोंकी विचित्रतासे प्रकृतियोंके भी अनन्त भेद होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नाना जीवोंके भी एकसा बन्ध और एकसा उदय होता है। अतः प्रकृतियोंके विसदृश भेद असंख्यात ही होते हैं। अतः योगस्थानोंसे प्रकृतियाँ असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि एक एक योगस्थानमें वर्तमान नाना जीव या कालक्रमसे एक ही जीव इन सभी प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

तथा, प्रकृतिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिके भेद होते हैं। क्यों कि एक एक प्रकृति असंख्यात तरह की स्थितियों को लेकर बंधती है। जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी तीन समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षासे ही स्थितिके असंख्यात भेद हो जाते हैं, तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षासे प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेदोंका असंख्यातगुणा होना स्पष्ट ही है। अतः प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेद असंख्यातगुणे होते हैं।

तथा स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं। कषायके उदयसे होनेवाले जीवके जिन परिणामविशेषोंसे स्थितिबन्ध होता है, उन परिणामोंको स्थितिबन्धाध्यवसाय कहते हैं। एक एक स्थितिबन्धके कारणभूत ये अध्यवसाय या परिणाम अनेक होते हैं, क्योंकि सबसे जघन्यस्थितिका बन्ध भी असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसायोंसे होता है। अर्थात् एक ही स्थितिबन्ध किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है और किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है। ऐसा

ही आगे भी समझ लेना चाहिये। अत स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे होते हैं। तथा, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानसे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं। अर्थात् स्थितिबन्धके कारणभूत परिणामोंसे अनुभागबन्धके कारणभूत परिणाम असख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक आठ समय तक ही रहता है। अत एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमें असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं।

तथा, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि पहले बतला आये हैं कि एक जीव एक समयमें अभव्यराशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तवेंभाग कर्मस्कन्धोंको ग्रहण करता है। किन्तु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण तो केवल असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितना ही बतलाया है। अत अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध सिद्ध होते हैं।

तथा, कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद या अविभागी प्रतिच्छेद हैं। बात यह है कि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके द्वारा कर्मपुद्गलोंमें रस पैदा होता है। यदि एक परमाणुमें मौजूद रस या अनुभागशक्तिको केवल ज्ञानके द्वारा छेदा जाये तो उसमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद या रसच्छेद पाये जाते हैं। अर्थात् समस्त कर्मस्कन्धके प्रत्येक परमाणुमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक एक कर्मस्कन्धमें कर्मपरमाणु केवल सिद्धराशिके अनन्तवें भाग ही होते हैं। अत कर्मस्कन्धोंसे रसच्छेद अनन्तगुणे सिद्ध होते हैं। इसप्रकार बन्ध और उनके कारणोंका अल्पबहुत्व जानना चाहिये॥

---

१ कर्मकाण्डमें इनमेंसे केवल छहका ही परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है–

प्रदेशबन्धका विस्तारसे वर्णन करनेपर भी अभीतक उसका कारण नहीं बतलाया, अत प्रदेशबन्ध और प्रसङ्गवश पूर्वोक्त प्रकृति स्थिति और अनुभागबन्धके कारण बतलाते हैं—

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—गाथाके इस उत्तरार्द्धमें चारों बन्धोंके कारण बतलाये हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योगको बतलाया है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण कषायको बतलाया है। योग और कषायका स्वरूप पहले बतला आये हैं। योग एक शक्तिका नाम है जो निमित्त-कारणोंके मिलनेपर कर्मवर्गणाओंको कर्मरूप परिणमाती है। कर्मपुद्गलों का अमुकपरिमाणमें कर्मरूप होना, तथा उनमें ज्ञान वगैरहको घातने आदि का स्वभाव पड़ना ये योगके कार्य हैं। तथा आये हुए कर्मपुद्गलोंका अमुक कालतक आत्माके साथ दूधपानीकी तरह मिलकर ठहरना और उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पड़ना, ये कषायके कार्य हैं। अत दो बन्धोंका कारण योग है और दो का कारण कषाय है। जबतक कषाय रहती है, तबतक चारों बन्ध होते हैं। किन्तु कषायका उपशम या क्षय होजानेपर ग्यारहवें वगैरह गुणस्थानोंमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं। इसीसे कर्मकाण्डमें कहा है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ २५७ ॥'

अर्थात् 'प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। जिनकी कषाय अपरिणत है अर्थात् उदयरूप नहीं है तथा जिनकी कषाय नष्ट होगई है, उनके स्थितिबन्धका

रसच्छेदको इसमें नहीं लिया है। देखो गा० २५८ २६०।

कारण नहीं है'। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव होजाता है, अत यहाँ एक भी बन्ध नहीं होता है ॥

योगस्थानोंका प्रमाण श्रेणिके असख्यातवें भाग बतलाया है। अत श्रेणिका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। किन्तु लोक और उसके घनफल का कथन किये बिना श्रेणिका स्वरूप नहीं बतलाया जासकता, अत श्रेणिके साथ ही साथ घन और प्रतरका स्वरूप भी कहते हैं—

चउदसरज्जू लोउ बुद्धिकउ होइ सत्तरज्जुघणो।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

अर्थ—लोक चौदह राजु ऊँचा है, और बुद्धिके द्वारा उसका समीकरण करनेपर वह सातराजुके घनप्रमाण होता है। सातराजु लम्बी आकाश-के प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं, और उसके वर्गको प्रतर कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें प्रसङ्गवश लोक, श्रेणि और प्रतरका स्वरूप बतलाया है। गाथामें 'चउदसरज्जू लोउ' लिखा है, जिसका आशय है कि लोक चौदह राजु है। किन्तु यह केवल उसकी ऊँचाईका ही प्रमाण है। लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया है। जो इस प्रकार है—

---

१ त्रिलोकसार में लिखा है—

'उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसचयसण्णिहो हवे लोगो।
अद्धुदओ मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥ ६ ॥'

अर्थात् खड़ा करके आधे मृदङ्ग के ऊपर रखे हुए पूरे मृदङ्ग के समान लोक का आकार जानना चाहिये। उसका मध्य भाग ध्वजाओं के समूह के सदृश अनेक प्रकार के द्रव्योंसे भरा हुआ है। अधोलोक आधे मृदङ्ग के आकार है और उर्ध्वलोक पूरे मृदङ्ग के आकार है। तथा सबलोक चौदह राजु ऊंचा है।

इसके नीचेका भाग पूर्व-पश्चिम सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पुन बढ़ते बढ़ते १०॥ राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर घटते घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता बढ़ता हुआ है। सब ७ राजु मोटाई है। इस की चौड़ाई मोटाई और ऊँचाईका यदि बुद्धिके द्वारा समीकरण किया जाये तो वह सात राजु के घन के बराबर होता है।
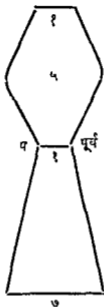
इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जाये तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सब‍त्र सातराजु ही रहती है। जैसे—
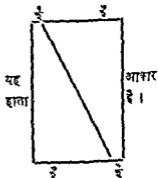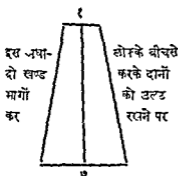
अब उर्ध्वलोकको लीजिये—उर्ध्वलोकका मध्यभाग पूर्वपश्चिममें ५ राजु चौड़ा है। उसमेंसे मध्यके तीन राजु क्षेत्रको ज्योंका त्यों छोड़कर दोनों ओरसे एक एक राजुके चौड़े और साढ़े तीन साढ़े तीन राजुके ऊँचे दो त्रिकोण खण्ड लेने चाहियें। उन दोनों खण्डोंमें मध्यसे काटनेपर चार त्रिकोण खण्ड होजाते हैं, जिनमेंसे प्रत्येक खण्डकी भुजा एक राजु और कोटि पौने दो राजु होती है। उन चारों खण्डोंको उलटा सुल्टा करके उनमेंसे दो खण्ड उर्ध्वलोकके अधोभागमें दोनों ओर, और दो खण्ड उसके उर्ध्वभागके दोनों ओर मिलादने चाहिये। ऐसा करनेसे उर्ध्वलोककी ऊँचाईमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजु होजाता है। जैसे—
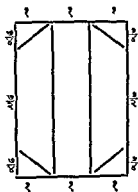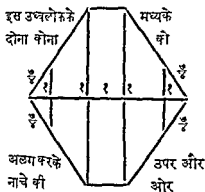
उर्ध्वलोकके इस नये आकारको अधोलोकके नये आकारके साथ मिलादेनेपर सात राजु चौड़ा, सात राजु ऊँचा और सात राजु मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अतः ऊँचाई चौड़ाई और मोटाई, तीनों सात सात राजु होनेके कारण लोक सात राजु का घनरूप सिद्ध होता है।
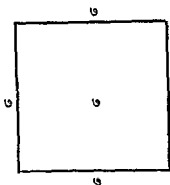
लोक तो वृत्त है और यह घन समचतुरस्ररूप होता है। अतः वृत्त करनेके लिये उसे १९ से गुणा करके बाइससे भागदेना चाहिये। तब वह कुछ कम सात राजू लम्बा, चौड़ा और गोल होता है। किन्तु व्यवहारमें सात राजुका चतुरस्र घनलोक जानना चाहिये।

[सात राजु लम्बी आकाशके एक एक प्रदेशकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं।) जहाँ कहीं श्रेणिके असंख्यातवें भागका कथन हो वहाँ यही श्रेणि लेना चाहिये। श्रेणिके वर्गको प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणिमें जितने प्रदेश हों, उनको उतने ही प्रदेशोंसे गुणा करनेपर प्रतरका प्रमाण आता है। अथवा सात राजु लम्बी और सात राजु चौड़ी एक एक प्रदेशकी पंक्तिको प्रतर कहते हैं।। तथा, प्रतर और श्रेणिको परस्परमें गुणा करनेपर घन या घन लोक होता है। इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घनलोकका प्रमाण जानना चाहिये ॥

---

१ पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी श्रेणिका यही स्वरूप बतलाया है। यथा—'लोकमध्यादारभ्य उर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिः।' पृ० १००।

राजु का प्रमाण त्रिलोकसार में 'जगसेढिसत्तभागो रज्जु' (गा० ७) लिखकर श्रेणि के सातवें भाग बतलाया है। तथा द्रव्यलोक० में प्रमाणांगुल से निष्पन्न असंख्यात कोटीकोटी योजनका एक राजु बतलाया है। यथा-'प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः। असंख्यकोटीकोटीभिरेका रज्जुः प्रकीर्तिता ॥ ६४ ॥ १ स०।

२ प्रतर से आशय वर्ग का है। समान दो संख्याओंको आपसमें गुणा करने पर जो राशी उत्पन्न होती है वह उस संख्या का वर्ग कहलाती है। जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं। तथा समान तीन संख्याओं का परस्पर में गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७ का घन ७×७×७= ३४३ होता है।

२१ उपशमश्रेणिद्वार

'नमिय जिणं धुवबन्धो' आदि पहली गाथामें जिन जिन विषयोंका नाम लेकर उनका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन विषयोंका वर्णन तो किया जा चुका। अब उसी पहली गाथामें आये हुए 'च' शब्दसे जिन उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिका ग्रहण किया गया है, उनमसे पहले उपशमश्रेणिका कथन करते हैं–

अण-दस-नपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

अर्थ–पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक एक संज्वलन कषायका अन्तर देकर दो दो सदृश कषायोंका एक साथ उपशम करता है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम करके संज्वलन क्रोधका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम करके संज्वलन मानका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम करके संज्वलन मायाका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करके संज्वलन लोभका उपशम करता है।

भावार्थ–पहले लिख आये हैं कि सातवें गुणस्थानमें आगे दो

---

१ यह गाथा आवश्यकनियुक्ति से ली गई जान पड़ती है। उसमें भी यह इसी प्रकार है–

'अण दस नपुंसित्थीवेय-छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ११६ ॥'

श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—एक उपशमश्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि । उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका उपशम किया जाता है, इसीसे उसे उपशमश्रेणि कहते हैं । ग्रन्थकारने इस गाथामें मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम करनेका क्रम बतलाया है । सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम होता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकारसे है—

चौथे, पाँचवे, छठे और सातवे गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करनेके लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है । यथाप्रवृत्तकरणमें प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और उसकी वजहसे शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी वृद्धि तथा अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी हानि होती है । किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि अथवा गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं । यथाप्रवृत्तकरणका अन्तमुहूर्त काल समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है । इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध, ये पाँच कार्य होते हैं । अपूर्वकरणके प्रथम समयमें कर्मोंकी जो स्थिति होती है, स्थितिघातके द्वारा उसके अन्तिम समयमें वह संख्यातगुणा कम कर दी जाती है । रसघातके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है । गुणश्रेणिरचनामें प्रकृतियोंकी अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर, ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदयावलीके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमें उनका निक्षेप कर दिया जाता है । अर्थात् पहले समयमें जो दलिक लिये जाते हैं, उनमेंसे सबसे कम दलिक प्रथम समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे भी असंख्यात गुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं । इस प्रकार अन्तमुहूर्त कालके

१ गा० ८२ ८३ में गुणश्रेणी का स्वरूप बतलाया है ।

अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयोंमें भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि गुणश्रेणिकी रचनाके लिये पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे थोड़े होते हैं। और उसके पश्चात् प्रत्येक समयम उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकोंका निक्षेप, अवशिष्ट समयोंमें ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपरके समयोंमें नहीं किया जाता।

गुणसंक्रमके द्वारा अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके थोड़े दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही स्थितिबंध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है। अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समयसे ही पूर्वोक्त पाँच कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर जब एक भाग बाकी रहता है तो अनन्तानुबन्धी कषायके एक आवली प्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़कर बाकी निषेकोंका उसी तरह अन्तरकरण किया जाता है जैसे कि पहले[1] मिथ्यात्वका बतलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँसे उठा उठाकर बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरणके प्रारम्भ होनेपर, दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी कषायके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंका उपशम किया जाता है। पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है, तीसरे समयमें

---

1 गा० १० में।

सम्बन्धमें वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानमें सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियोंका गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरणके कालमेंसे संख्यातवाँ भाग बीत जानेपर निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। उसके बाद और भी काल बीतनेपर सुरद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति वगैरह तीस प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद होता है। तथा अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्धविच्छेद होता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर चारित्र मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। जिन कर्मोंका उस समय बन्ध और उदय होता है, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है। जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका उस समय केवल उदय ही होता है, बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थितिमें नहीं। जैसे स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़ने वाला स्त्रीवेदका। जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उस समय केवल बन्ध ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका द्वितीयस्थितिमें ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे संज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला शेष संज्वलन कषायोंका। किन्तु जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको अन्य प्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। जैसे द्वितीय और तृतीय कषायका। अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेदका उपशम करता है।

१ आवश्य० नि० गा० ११६ की टीका के, तथा विशेषा० भा० गा० १२८८ के अनुसार यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीवकी अपेक्षासे बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेदके उदयसे कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसकवेदका उपशम करता है। फिर क्रम

से पुरुषवद, हास्यादिषट्क और स्त्रीवेदका उपशम करता है। तथा यदि नपुसक्वेदके उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेदका उपशम करता है उसके बाद क्रमश पुरुषवेद हास्यादिषट्क और नपुसक वेद का उपशम करता है। साराश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है। जैसा कि विशेषा० भा० में लिखा है—

"तत्तो य दसणतिग तओऽणुइण्ण जहथयरवेय।
तत्तो वीय छक्क तओ य वेय सयमुदिन्न ॥१२८८॥"

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है। उसके पश्चात् अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके पश्चात् दूसरे वेदका उपशम करता है। उसके पश्चात् हास्यादिषट्कका उपशम करता है। उसके पश्चात् जिस वेदका उदय होता है उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृतिमें इस क्रमको इस प्रकार बतलाया है—

'उदय वज्जिय इत्थी इत्थि समयइ अवेयगा सत्त।
तह वरिसवरी वरिसवरित्थि समग कमारद्धे ॥ ६५ ॥' उपशमना०

अर्थात्—यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुसकवेद का उपशम करती है उसके बाद चरमसमयमात्र उदयस्थितिको छोड़कर स्त्री वेदके शेष सभी दलिकोंका उपशम करती है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करती है। तथा यदि नपुसक उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदयस्थितिको छोड़कर शेष नपुसक वेदका तथा स्त्रीवेदका एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुष वेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है।

लब्धिसारमें भी कर्मप्रकृतिके अनुरूप ही विधान है। देखो गा० ३६१-३६२।

उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादिषट्कका उपशम करता है। हास्यादिषट्कका उपशम होते ही पुरुषवेदके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। हास्यादिषट्ककी उपशमनाके अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्रमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। जिस समयमें हास्यादिषट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। जब संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक आवलिका काल शेष रह जाता है तो संज्वलन क्रोधके बंध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिगत एक आवलिकाको और ऊपरकी स्थितिगत एक समय कम दो आवलिकामें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समयमें संज्वलन क्रोधके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको ले लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करनेके प्रथमसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मानका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका संज्वलन मानमें प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया वगैरहमें किया जाता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मानके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिगत एक

आवलिका और एक समय कम दो आवलिकामें बांधे गये ऊपरकी स्थितिगत कर्मदलिकाको छोड़कर शेष दलिकोंका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मानका उपशम करता है। जिस समयमें संज्वलन मानके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनंतर समयसे लेकर संज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्तप्रकारसे प्रथम स्थिति करता है और उसी समयसे लेकर तीनों मायाका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका संज्वलन मायामें प्रक्षेप नहीं करता, किन्तु संज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मायाके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिकामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत दलिकोंको छोड़कर शेषका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मायाका उपशम करता है। जब संज्वलन मायाके बंध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन लोभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्थिति करता है। लोभका जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थितिका काल रहता है। प्रथम त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है। अर्थात् पहलेके स्पर्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर उन्हें अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकों और अपूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अनन्त कृष्टि करता है, अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीनरस करके उन्हें अन्तरालसे स्थापित कर देता है। कृष्टिकरणके कालके

अन्त समयमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करता है। उसी समयमें संज्वलन लोभके बन्धका विच्छेद होता है और बादर संज्वलन लोभके उदय तथा उदीरणाका विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें गुणस्थानका अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवाँ सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान होता है। सूक्ष्मसाम्परायका काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आगेके ऊपरकी स्थितिसे कुछ दलिकोंको लेकर सूक्ष्मसाम्परायके कालके बराबर प्रथम स्थिति करता है, और एक समय कम दो आवलिमें बँधे हुए दलिकोंका उपशम करता है। सूक्ष्मसाम्परायके अन्तिम समयमें संज्वलन लोभका उपशम हो जाता है। उसी समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। अनन्तर समयमें ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तकषाय हो जाता है। इस गुणस्थानमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंका उपशम रहता है।

शङ्का—सातवें गुणस्थानवर्ती जीव ही उपशमश्रेणिका प्रारम्भ करता

---

१ लब्धिसार गा० २०५-३९१ में उपशम का विधान विस्तार से किया है जो प्रायः उक्त वर्णन से मिलता जुलता है। किन्तु उसमें अनन्तानुबन्धी के उपशम का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार विसंयोजना ही पायी जाती है। जैसा कि उसमें लिखा भी है—

'उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता ॥ २०५ ॥'

अर्थात् 'उपशमचारित्रके अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके' इत्यादि।

२ इस शङ्का-समाधानके लिये विशेषावश्यक भा० गा० १२९५–१३०३ देखना चाहिये।

३ इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है। यथा—

"अन्ने भणंति अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं।

है, और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम करनेपर सातवाँ गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय होते हुए सम्यक्त्व वगैरहकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। ऐसी दशामें उपशम श्रेणिमें पुन उनका उपशम बतलानेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्रकी प्राप्ति उक्त प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होती है और वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही उपशम-श्रेणिमें उपशम सम्यक्त्व होता है। अत उपशम श्रेणिका प्रारम्भ करनेसे पहले उक्त प्रकृतियोंका क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

शङ्का—उदयमें आये हुए कर्म दलिकोंका क्षय, और सत्तामें विद्यमान कर्मदलिकोंका उपशम होनेपर क्षयोपशम होता है। अत उपशम और क्षयोपशममें अन्तर ही क्या है ?

अन्नयरो पडिवज्जइ दंसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥१२९१॥' विशे०भा०

अथात्–'अन्य आचार्योंका कहना है कि अविरत देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशमश्रेणि चढता है।

इस मत भेदका कारण सम्भवत यह मालूम पड़ता है कि, जिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम से, या यू कहना चाहिये कि द्वितीय उपशम सम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ माना है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंको उपशमश्रेणिका प्रारम्भक मानते हैं क्योंकि उपशमसम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों म ही प्राप्त किया जाता है। किन्तु जो चारित्रमोहनीय के उपशम से या यू कहना चाहिये कि उपशम चारित्रकी प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नसे उपशमश्रेणिका प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थानमें ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय इस दूसरे मतको ही मानता है।

उत्तर—क्षयोपशममें घातक कर्मोंका प्रदेशोदय रहता है किन्तु उपशममें उनका किसी भी तरहका उदय नहीं होता।

शङ्का—यदि क्षयोपशमक होनेपर भी अनन्तानुबन्धी कषाय वगैरहका प्रदेशोदय होता है, तो सम्यक्त्व वगैरहका घात क्यों नहीं होता?

उत्तर—उदय दो तरहका होता है—एक फलोदय और दूसरा प्रदेशोदय। फलोदय होनेसे गुणका घात होता है, किन्तु प्रदेशोदय अत्यन्त मन्द होता है अतः उससे गुणका घात नहीं होता। अतः क्षयोपशम और उपशममें अन्तर होनेके कारण उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धी वगैरहका उपशम किया जाता है। सारांश यह है कि उपशम श्रेणिमें मोहनीयकर्मकी समस्त प्रकृतियोंका पूरी तरहसे उपशम किया जाता है। उपशम कर देनेपर उस कर्मका अस्तित्व तो बना ही रहता है, जैसे गदले पानीसे भरे हुए घड़ेमें फिटकरी वगैरह डाल देनेसे, पानीकी गाद उसके तलमें बैठ जाती है। पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्योंकी त्यों मौजूद रहती है। उसी तरह उपशम श्रेणिमें जीवके भावोंको कलुषित करनेवाला प्रधान मोहनीय कर्म शान्त कर दिया जाता है। अपूर्वकरण वगैरह परिणाम ज्यों ज्यों ऊँचे उठते जाते हैं, त्यों त्यों मोहनीयरूपी धूलिके कणस्वरूप उसकी उत्तर प्रकृतियां एकके बाद एक शान्त होती चली जाती हैं। इसप्रकार उपशम की गई प्रकृतियोंमें न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जासकता है, और न उन्हें बढ़ाया जासकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो

१ "तथा चोक्तमागमे- एवं खलु गोयमा! मए दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा-पएसकम्मे य अणुभावकम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ। तत्थ णं जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थे गइयं वेदेइ, अत्थेगतियं नो वेएइ'। भग०।" विशेषा० भा० कोट्या० टी० पृ० १८२।

सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृतिरूप ही किया जासकता है। उपशम करनेका ये ही लाभ हैं। किन्तु उपशम तो केवल अन्तर्मुहूर्त कालके लिये किया जाता है। अतः दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है, तो कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके बाद, शान्त हुई कषायें उसी तरह उठ खड़ी होती हैं, जैसे शहरमें उपद्रव करनेवाले गुण्डे पुलिसको आता देख कर इधर उधर छिप जाते हैं, किन्तु उसके जाते ही प्रकट होकर पुनः उपद्रव मचाना शुरू कर देते हैं। फल यह होता है कि यह जीव जिस क्रमसे ऊपर चढ़ा था उसी क्रमसे नीचे उतरना शुरू कर देता है और ज्यों ज्यों नीचे उतरता जाता है त्यों त्यों, चढ़ते समय जिस जिस गुण स्थानमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति की थी, उस उस गुण स्थानमें आनेपर वे पुनः बंधने लगती हैं। उतरते उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है और यदि वहां भी अपनेको नहीं सम्हाल पाता तो पांचवे और चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है। यदि अनन्तानुबन्धीका उदय आजाता है तो सास्वादन[3] सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्वमें पहुँच जाता है। और इस

---

१ "अन्यत्राप्युक्त–'उवसंत कम्म जं न तओ कडेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु ॥१॥'
पञ्च० कर्मग्रन्थ स्वो० टी०पृ०१३१।

२ 'उवसाम उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे ॥११८॥' आव०नि०।
अर्थात्–गुणवान् पुरुषके द्वारा उपशान्तकी गई कषाय जिन भगवानके सदृश चारित्रवाले व्यक्तिको भी पतन करा देती हैं, फिर अन्य सरागी पुरुषोंका तो कहना ही क्या है?

३ विशे० भा० में लिखा है–
"पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥ १२९० ॥"

तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है। किन्तु यदि छठे गुणस्थानमें आकर सम्हल जाता है तो पुन उपशम श्रेणि चढ़ सकता है, क्योंकि एक

कोट्याचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—" 'उपशमश्रेणि' तथा प्रतिपतन् स या भवद् अप्रमत्तसयतो वा स्यात्, प्रमत्तो वा, अविरत सम्यग्दृष्टिर्वा, वा शब्दात् सम्यक्त्वमपि जह्यात्'।

अर्थात्– श्रेणी से गिरकर अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसंयत, (देशविरत) या अविरतसम्यग्दृष्टि होता है। 'वा' शब्द से सम्यक्त्व को भी छोड़ देता है।

बृहद्वृत्तिमें लिखा है-'अत्र समाप्तौ च निवृत्तो-प्रमत्तगुणस्थान प्रमत्तगुणस्थान वा अतिष्ठते। कालगतस्तु देवेष्वविरतो या भवति। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु प्रतिपतितोऽसौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति।'

अर्थात्–'श्रेणि की समाप्ति पर वहां से लौटते हुए जीव सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है। किन्तु यदि मर जाता है तो मरकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है। कर्मशास्त्रियोंके मतमें तो श्रेणिसे गिरकर जीव पहले गुणस्थान तक भी जाता है।' इससे पता चलता है कि सम्यक्त्व का वमन करने में सिद्धान्तशास्त्रियों और कर्मशास्त्रियों में मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्यों में भी इस विषय में मतभेद है। यह बात लब्धिसार की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है। उपशमसम्यक्त्वका काल बतलाते हुए लिखा है—

'चडणोदरकालादो पुव्वादो पुव्वगोत्ति संखगुण।
कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं ॥ ३४७ ॥
तस्सम्मत्तद्धाए असजमं देससजमं वापि।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ॥ ३४८ ॥
जदि मरदि सासणो सो णिरयतिरक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥ ३४९ ॥

भवमें दो बार उपशम श्रेणि चढनेका विधान पाया जाता है। किन्तु दो बार उपशम श्रेणि चढनेपर वह जीव उसी भवमें क्षपकश्रेणि नहीं चढ सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह दूसरी बार क्षपक श्रेणि

णरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं।
तम्हा तिसुवि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥ ३५० ॥"

अर्थात्—चढते समय अपूर्वकरणके प्रथम समय से लेकर उतरते समय अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त, जितना काल लगता है, उससे संख्यातगुणा काल द्वितीय उपशम सम्यक्त्वका होता है। इसमें अध प्रवृत्तका काल भी समझ लेना चाहिये। यह काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस कालमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने पर जीव देशसंयम को प्राप्त करता है अथवा अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय होनेपर असंयम को प्राप्त होता है। तथा छह आवली काल बाकी रह जानेपर अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यदि सासादनदशामें वह मरण करता है, तो नियमसे देव ही होता है ऐसा यतिवृषभाचार्य का मत है, क्योंकि नरकायु तिर्यगायु और मनुष्यायु (परभव की अपेक्षासे) की सत्तावाला मनुष्य चारित्र मोहनीयका उपशम नहीं कर सकता।' इस प्रकार यतिवृषभाचार्य के मतसे सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति बतलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बतलाते हुए लिखते हैं—

'उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥ ३५१ ॥"

अर्थात्—भूतबलि स्वामी के निर्मल सूत्र (महाकर्म प्रकृति) के स्पष्ट उपदेश के अनुसार जीव उपशमश्रेणि से उतरकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।'

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा ६४, पञ्चसं० गा० ९३ (उपशम०)

भी चढ़ सकता है। किन्तु यह कर्मशास्त्रियोंका मत है। सिद्धान्तशास्त्रियों-के मतसे तो एक भवमें एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ता है। इसप्रकार उपशम श्रेणिका स्वरूप जानना चाहिये।

२२. क्षपकश्रेणिद्वार

उपशमश्रेणिका वर्णन करके अब क्षपकश्रेणिका वर्णन करते हैं—

अण मिच्छ मीस सम्म तिआउ इग-विगल-थीणतिगु-ज्जोवं।

१ उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—

'जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसि उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवग सेढी हुज्ज त्ति। पञ्च० कर्मग्र० टी०, पृ १३२।

२ तम्मि भव निव्वाण न लभइ उक्कोसओ व संसारं।

पोग्गलपरियट्टद्धं देसूण कोइ हिंडेज्जा॥ १३१५॥" विशे० भा०।

अर्थात्-उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता, और कोई कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं।

लब्धिसार में लिखा है कि जीव उपशम श्रेणिमें अधःकरण पर्यंत तो क्रम से गिरता है। उसके बाद यदि पुनः विशुद्ध परिणाम होते हैं तो पुनः ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है। और यदि संक्लेश परिणाम होते हैं तो नीचे के गुणस्थानोंमें आता है।

यथा— 'अद्धाखये पडतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण।

सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो॥ ३१०॥"

३ आवश्यकनिर्युक्ति (म० भा०) में इन प्रकृतियोंको इस प्रकार गिनाया है—

तिरि-नरय थावरदुग साहारा-यव-अड-नपु-त्थीए ॥ ९९ ॥
छग-पु-संजलणा-दोनिद्द-विग्घ-वरणक्खए नाणी ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मनुष्यायुके सिवाय बाकीकी तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय (दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियजाति), स्त्यानर्द्धि आदि तीन, उद्योत, तिर्यञ्चगति और तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति और नरकानुपूर्वी, स्थावर और सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनकषाय, दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण, इन ६३ प्रकृतियोंका क्षय करनेपर जीव केवलज्ञानी होता है ।

भावार्थ—पहले लिख आये हैं कि क्षपकश्रेणिमें मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका मूलसे नाश किया जाता है । इसीसे उसे क्षपकश्रेणि कहते हैं । अर्थात् उपशमश्रेणिमें तो प्रकृतियोंके उदयको शान्त कर दिया जाता है, प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु वे अन्तर्मुहूर्तके लिये अपना फल वगैरह नहीं दे सकता । किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है । अतः उनके पुनः उदय होनेका भय नहीं रहता, और इसी कारणसे क्षपकश्रेणिमें पतन नहीं होता । उक्त गाथामें उन प्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं, जिनका क्षपकश्रेणिमें क्षय किया जाता है । क्षपणका क्रम निम्न प्रकार है—

'अण मिच्छ-मीस-सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेय छक्कं च ।
पुमवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणे ॥ १२१ ॥
गइ अणुपुव्वी य दो दो जातीनामं च जाव चउरिंदी ।
आयाव उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च ॥ १२२ ॥
साहारमपज्जत्तं निद्दानिद्दं च पयलपयलं च ।
थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ १२३ ॥'

आठ वर्ष अधिक आयुवाला, उत्तम संहननका धारक, चौथे, पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ करता है। सबसे पहले वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका एक साथ नाश करता है, और उसके शेष अनन्तवें भागको मिथ्यात्वमें स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंशका एक साथ नाश करता है। उसके बाद इसी प्रकार क्रमशः सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करता है। जब सम्यक्मिथ्यात्वकी स्थिति एक आवलिकामात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीयकी स्थिति आठवर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्त मुहूर्त प्रमाण खण्ड कर करके खपाता है। जब उसके अन्तिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपकको कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरणके काल

१ पट्ठवत्तोद अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाण।
अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो॥१३२१॥ विशे०भा०।

दिगम्बर सम्प्रदायमें चारित्रमोहनीयके क्षपणसे ही क्षपकश्रेणि ली जाती है जैसा कि उपशमश्रेणिके बारेमें भी लिख आये हैं। अतः वहाँ क्षपकश्रेणिका आरोहक अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही माना जाता है।

२ "पन्नमकसाण समयं खवेइ अंतोमुहुत्तमेत्तेण।
तत्तो च्चिय मिच्छत्तं तओ य मीसं तओ सम्मं ॥१३२२॥" विशे०

३ लब्धिसार में दर्शनमोह की क्षपणा के बारे में लिखा है—
'दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥ ११० ॥
णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य।
किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥ १११ ॥"

अर्थात्—कर्मभूमि का मनुष्य तीर्थङ्कर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूल में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है। अध:करणके प्रथम समयसे लेकर जब तक मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीयका द्रव्य

में यदि कोइ जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षेपक श्रेणिका प्रारम्भ बद्धायु जीव करता है, तो अनन्तानुबन्धीके क्षयके पश्चात् उसका मरण होना सम्भव है। उस अवस्था-में मिथ्यात्वका उदय होनेपर वह जीव पुन अनन्तानुबन्धीका बन्ध करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धी नियमसे बधती है। किन्तु

सम्यक्त्व प्रकृतिका सक्रमण करता है तब तकके अन्तमुहूर्त कालको दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भक काल कहा जाता है। और उस प्रारम्भ कालके अनन्तर समयसे लेकर क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पहले समय तक का काल निष्ठापक कहा जाता है। सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहाँ ही, अथवा सौधर्मादि स्वर्गोंमें, अथवा भोग भूमिमें, अथवा घर्मा नामके प्रथम नरकमें होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

सम्भवत ऊपर लिखे 'कृतकरण' कहा है उसे ही दिगम्बर सम्प्रदायमें 'कृतकृत्य' कहते हैं। जो इस बात को बतलाता है कि उस जीवने अपना कार्य कर लिया, अत वह कृतकृत्य हो गया। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अधिकस अधिक चौथे भवमें नियमसे मोक्ष चला जाता है। कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है। उस अन्तर्मुहूर्तमें यदि मरण हो तो—"देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउगईसुपि।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥५६२॥" कर्मकाण्ड

उसके प्रथम भागमें मरनेपर देवगतिमें, दूसरे भागमें मरनेपर देव और मनुष्यगतिमें, तीसरे भागमें मरनेपर देव, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें, और चौथे भागमें मरनेपर चारों गतिमें कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है।

१ "बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥१३२३॥विशे०भा०

मिथ्यात्वका क्षय हानेपर पुन अनन्तानुबन्धीके बन्धका भय नहीं रहता। बँद्धायु होनेपर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता, तो अन तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहका क्षय करनेके बाद वह वहीं ठहर जाता है, चारित्र मोहनीयके क्षय करनेका यत्न नहीं करता। किन्तु यदि अबद्धायु होता है तो वह क्षपक श्रेणिको समाप्त करके केवलज्ञानको प्राप्त करता है, और फिर मुक्त हो जाता है। अत क्षपक श्रेणिको समाप्त करने वाले मनुष्यके देवायु, नरकायु और तिर्यञ्चायुका अभाव तो स्वत ही होता है। तथा पूर्वोक्त क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि चार तथा दर्शनमोहका क्षय चौथे आदि चार गुण स्थानोंमे कर देता है। उसके पश्चात् चरित्र मोहनीय का क्षय करनेके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता है।

इन तीनों करणोंका स्वरूप तथा कार्य पहले उपशम श्रेणीके वर्णनमें बतला ही आये हैं। यहाँ अपूर्वकरणमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा अप्रत्या ख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायकी आठ प्रकृतियोंका इस तरह क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवें भागमात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरणके सख्यात भाग बीत जानेपर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेंद्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थिति उद्वलना सक्रमणके द्वारा उद्वलना होनेपर पल्यके असख्यातवें भाग मात्र रह जाता है। उसके बाद गुणसक्रमके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंमे उनका प्रक्षेप कर करके उन्हे बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयका प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वह क्षीण नहीं होती है, अतरालमें ही पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षपण किया जाता

---

१ 'बद्धाऊपडिवन्नो नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ।
इयरो अणुवरओ च्चिय सयल सेढिं समाणेइ ॥१३२२॥' विशे० भा०।

है। उनके क्षयके[1] पश्चात् उन आठ कषायोंका भी अन्तमुहूर्तमें ही क्षय कर देता है। उसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायोंमें अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायोंका क्षपण करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन खण्ड करके दो खण्डोंका एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन क्रोधमें मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके लिये है। यदि[2] स्त्री श्रेणि-

१ किसी किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है, उनके मध्यमें आठ कषायका क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। देखो, पञ्च० कम० प्र० टी० पृ० १३५ और कर्मप्रकृ० सत्ताधि० गा० ५५ की यशो० टी०। कर्मकाण्डमें इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"णत्थि अण उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य ।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं ॥ ३९१ ॥"

अर्थात्–'उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धिका सत्त्व नहीं होता। और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायों का क्षपण करके पश्चात् सोलह वगैरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।'

२ पञ्चसंग्रह में लिखा है–

"इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा ।
अपुमोदयम्मि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥ ३४६ ॥"

अर्थ–स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवर पहले नपुंसकवेदका क्षय होता है, फिर स्त्रीवेदका क्षय होता है, फिर पुरुष वेद और हास्यादिषट्कका क्षय होता है। नपुंसकवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिषट्कका क्षय होता है।

कर्मकाण्ड गा० ३८८ से भी इसी क्रम को बतलाया है।

पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेदका क्षपण करती है। उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्री वेदका क्षपण करती है। तथा यदि नपुंसक श्रेणिपर आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेदका क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुंसकवेदका क्षपण करता है। सारांश यह है जिस वदके उदयसे श्रेणि चढता है उसका क्षपण अन्तमें होता है। वेदके क्षपणके बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभका क्षपण उस प्रकारसे करता है। अर्थात् संज्वलन क्रोधके तीन खण्ड करके दो खण्डोंको तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन मानमें मिला देता है। इसप्रकार मानके तीसरे खण्डको मायामें मिलाता है और मायाके तीसरे खण्डको लोभमें मिलाता है। प्रत्येकके क्षपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है तथा श्रेणिका काल भी अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। लोभ कषायके भी तीन खण्ड करके दो खण्डोंको तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्डके संख्यात खण्ड करके चरम खण्डके सिवा शेष खण्डोंको भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। फिर उस चरम खण्डके भी असंख्यात खण्ड करके उन्हें दसवें गुणस्थानमें भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। इसप्रकार लोभकषायका पूरी तरहसे क्षय होनेके अनन्तर समयमें क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थानके कालके संख्यात भागोंमेंसे एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीयकर्मके सिवा शेषकर्मोंका स्थितिघात वगैरह पूर्ववत् होते हैं। उसमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और दो निद्रा, इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थितिको क्षीणकषायके कालके बराबर करता है, केवल निद्राद्विककी स्थितिको एक समय कम करता है। इनकी स्थिति बराबर होते ही इनमें स्थितिघात वगैरह कार्य होने बन्द हो जाते हैं, शेष प्रकृतियोंमें होते रहते हैं। क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें निद्राद्विकका क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियोंका अन्तिम समयमें क्षय करता है।

उसके अनन्तर समयमें वह सयोगकेवली हो जाता है[२]।

---

१ विशे० भा० में इस क्रमको चित्रण करते हुए लिखा है—

'दसणमोहखवणे नियट्टि अणियट्टि बायरो परओ।
जाव उ सेसो सजलणलोभमसंखेज्जभागोत्ति ॥ १३३८ ॥
तदसखिज्जइभाग समए समए खवेइ एक्केक्कं।
तत्थइ सुहुमसरागो लोभाणू जावमेक्को वि ॥ १३३९ ॥
खीणे खवगनिगंठो वीसमए मोहसागर तरिउं।
अतोमुहुत्तमुदहिं तरिउं थाहे जहा पुरिसो ॥ १३४० ॥
छउमत्थकालदुचरिमसमए निद्द खवेइ पयल च।
चरिमे केवललाभो खीणावरणांतरायस्स ॥ १३४१ ॥

२ आवश्यकनिर्युक्तिकी मलयगिरिकृत टीकामें बारहवें गुणस्थानमें क्षय की जानेवाली प्रकृतियोंके सम्बन्धमें एक मतान्तरका उल्लेख किया है। लिखा है—

'अन्ये त्वेवमभिदधति-द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रां प्रचलां च क्षपयति, नामश्च इमाः प्रकृतीः, तद्यथा-देवगतिदेवानुपूर्व्यौ, वैक्रियद्विकं, प्रथमवर्जानि पञ्च सहननानि उदितवर्जानि पञ्च सस्थानानि, आहारकनाम, तीर्थकरनाम च यद्यसेयातीर्थकर प्रतिपत्ता इति। अस्यार्थे च तन्मतेन विशोऽन्यकर्तृका इमा गाथा—"वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे। पढमे निद्द पयलं नामस्स इमाउ पयडीओ ॥ १ ॥ देवगइआणुपुव्वीविउव्विसघयणपढमवज्जाइं। अन्नयर सठाण तित्थयराहारनाम च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरण पचविहं दसणं चउविकप्प। पचविहमन्तराय खवइत्ता केवली होइ ॥३॥" एतच्च मतमसमीचीनम्, चूर्णिकृतो भाष्यकृत सर्वथा च कर्मग्रन्थकाराणामसम्मतत्वात्, केवल सूत्रिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति। सूत्रेऽप्येता गाथा प्रक्षेपतिता निर्युक्तिकारकृतास्तु एता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये

यह सयोगकेवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टसे कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करते, यदि उनके वेदनीय वगैरह कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक होती है तो उनके समीकरणके लिये समुद्घात करते हैं, और उसके पश्चात् योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। अन्यथा समुद्घात किये बिना ही योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। सबसे पहले बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्मकाय योगके

च अग्रहणात् इति ॥' पृ १२७ उ०।

अर्थात्-किन्हींका कहना है कि बारहवें गुणस्थानके उपान्त समयमें निद्रा, प्रचला तथा नामकर्मकी देवगति, देवानुपूर्वी वैक्रियद्विक, पहलेके सिवाय बाकीके पाँच संहनन जिस संस्थानका उदय हो उसके सिवाय शेष पाँच संस्थान, आहारक नाम, यदि क्षपक तीर्थंकर न हुआ तो तीर्थंकर नाम, इन प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसके समर्थनमें किसी अन्य आचार्यकी बनाई हुई तीन गाथाएँ वे उपस्थित करते हैं। जो इस प्रकार हैं, उनमें लिखा है कि 'जब केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें दो समय शेष रह जाते हैं तो निर्ग्रन्थ पहले समयमें निद्रा प्रचला वगैरहका क्षय करता है और अन्त समयमें ज्ञानावरण वगैरहकी चौदह प्रकृतियोंका क्षपण करके केवली हो जाता है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि चूर्णिकार, भाष्यकार और सत्कर्म ग्रन्थके रचयिता आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। केवल वृत्तिकारने किसी अभिप्रायसे इसे लिख दिया है। सूत्रमें भी ये गाथाएँ प्रवाह रूपसे आ मिली हैं, किन्तु ये निर्युक्तिकारकी बनाई हुई मालूम नहीं होती, क्योंकि चूर्णि और भाष्यमें इनका ग्रहण नहीं किया है।

नोट-आगमोदयसमितिसे प्रकाशित नन्द्यादिगाथाद्यकारानुक्रमणिकामें उक्त गाथाओंका नम्बर क्रमशः १२४, १२५ और १२६ है और उन्हें आवश्यकसूत्रकी गाथाएं बतलाया है।

द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। उसके पश्चात् सूक्ष्म काययोगको रोकनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको ध्याते हैं। उस ध्यानमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय पर्यन्त आयुकर्मके सिवा शेष कर्मोंका अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगी अवस्थाके कालके बराबर हो जाती है। इतना विशेष है कि अयोगी अवस्थामें जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। सयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका विच्छेद होजाता है। उसके अनन्तर समयमें वह अयोगकेवली होजाते हैं। उस अवस्थामें वह व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। यहाँ स्थितिघात वगैरह नहीं होता, अतः जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो स्थितिका क्षय होनेसे अनुभव करके नष्ट करदेते हैं। किन्तु जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक संक्रमके द्वारा वेद्यमान प्रकृतियोंमें संक्रम करके अयोगी अवस्थाके उपान्त समय तक वेदन करते हैं। उपान्त्य समयमें ७२ का और अन्त समयमें १३ [1]प्रकृतियोंका क्षय करके

---

१ इस सम्बन्धमें मतान्तर है, जिसका उल्लेख छठे कर्म ग्रन्थ तथा उसकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संत सगमुक्कोसं जहन्नयं बारस हवन्ति ॥ ६८ ॥
मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीववागत्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिमभवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥"

अर्थात्– तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें आनुपूर्वी सहित तेरह

अयोगी नियम गुणस्थे प्राप्त करते हैं।

प्रकृतियोंकी सत्ता उत्कृष्ट रूपसे रहती है और जघन्यसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवा शेष बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी मनुष्यायु, क्षेत्र विपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेष नौ, कोई एक वेदनीय तथा उच्चगोत्र ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं, द्विचरम समयमें नष्ट नहीं होतीं। अतः तद्भवमोक्षगामीके अन्तिम समय में उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और जघन्यसे बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है।

किन्तु अन्तमें बारह प्रकृतियोंका क्षय माननेवालोंका कहना है कि मनुष्यानुपूर्वीका क्षय द्विचरम समयमें ही हो जाता है, क्योंकि उसके उदयका अभाव है। जिन प्रकृतियोंका उदय होता है उनमें स्तिबुकसंक्रम न होनेसे अन्त समयमें अपने अपने स्वरूपसे उनके दलिक पाये ही जाते हैं, अतः उनका चरम समयमें सत्ताविच्छेद होना युक्त ही है। किन्तु चारों ही आनुपूर्वियाँ क्षेत्रविपाकी होनेके कारण दूसरे भवके लिये गति करते समय ही उदयमें आती हैं, अतः भवमें स्थित जीवके उनका उदय नहीं हो सकता, और उदयके न हो सकनेसे अयोगी अवस्थाके द्विचरम समयमें ही मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ताका विच्छेद हो जाता है।

पंचमकर्मग्रन्थकी टीकामें ७२+१३का ही विधान किया है इसलिये हमने मूलमें उसे ही स्थान दिया है। कर्मकाण्डमें भी यही विधान है जैसा कि लिखा है– उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥ ३४१॥' अर्थात् उदयवती बारह प्रकृतियाँ और मनुष्यानुपूर्वी, ये तेरह प्रकृतियाँ अन्त समयमें सत्तासे व्युच्छिन्न होती हैं।

१ कर्मकाण्डमें क्षपकश्रेणिका विधान इस प्रकार बतलाया है–
"णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि दंसणतियक्खवगो।
अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टीकरणचरमम्हि ॥ ३३५ ॥

जुगव सजोगित्ता पुणो वि अणियट्टीकरणबहुभाग ।
वोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्म खवदि कमे ॥ ३३६ ॥"

अथात्-नरकायुका सत्त्व रहते हुए देशव्रत नहीं होते, तिर्यंचायुके सत्त्वमें महाव्रत नहीं होते, और देवायुके सत्त्वमें क्षपकश्रेणि नहीं होती । अत क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके नरकायु तिर्यंचायु तथा देवायुका सत्त्व नहीं होता । तथा, असयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत अथवा अप्रमत सयत मनुष्य पहलेही की तरह अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है । अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें अनन्तानु बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका एक साथ विसयोजन करता है अथात् उन्हें बारह कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है । उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोहका क्षपण करनेके लिये पुन अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है । अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब एक भाग काल बाकी रहजाता है और बहुभाग बीत जाता है तो क्रमश मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षपण करता है, और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है । उसके बाद चारित्र मोहनायका क्षपण करनेके लिये क्षपकश्रेणि चढ़ता है । सबसे पहले सातवें गुणस्थानमें अध करण करता है । उसके बाद आठवें गुणस्थानमें पहुचकर पहले की ही तरह स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन वगैरह कार्य करता है । उसके बाद नौवे गुणस्थानमें पहुच कर-

"सोलट्ठेक्किगिछक्क चदुसेक्क बादरे अदो एक्क ।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्ते ॥ ३३७ ॥"

नामकर्मकी १३ और दर्शनावरणकी तीन, इसप्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षपण करता है । उसके बाद उसी गुणस्थानमें क्रमश आठ कषाय नपुसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, सज्वलनक्रोध, सज्वलनमान और सज्वलनमायाका क्षपण करता है । उसके बाद दसवें गुणस्थानमें पहुँचकर सज्वलन लोभका क्षपण करता है । दसवेंसे एकदम बारहवें गुण-

१ पञ्चमकर्मग्रन्थकी मूल गाथाएँ

नमिय जिण धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छ बंधविह सामी य ॥ १ ॥
वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घ धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥
तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसास ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणिय ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेउत्तरी अधुवबंधा ।
भगा अणाइसाई, अणतसतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥
पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भगतिग ।
मिच्छम्मि तिन्नि भगा; दुहा वि अधुवा तुरियभगा ॥ ५ ॥
निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणतराय दसण, मिच्छ धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥
थिरसुभियर विणु अधुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीस, सम्म पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥
तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेसवेयतिग ।
आगिइतिगवेयणिय, दुजुयल सग उरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगईतिरिदुग नीय, धुवसता सम्म मीस मणुयदुग ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसता ॥ ९ ॥
पढमतिगुणेसु मिच्छ, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्ज ।
सासाणे खलु सम्म, सत मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥
सासणमीसेसु धुव, मीस मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥
आहारसत्तग वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थ ।
नोभयसते मिच्छो अतमुहुत्त भवे तित्थे ॥ १२ ॥

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
संजलण नोकसाया, विग्घ इय देसघाइओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥
सुरनरतिगुच्च साय, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं ।
परघासग तिरिआउ, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥ १६ ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥
नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिच्छ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥
तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुगनिद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥
घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥
नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥
मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥
एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥
नव छ चउ दंसे दु दु ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥
तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नाम ।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥ २६ ॥
मुत्तु अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥
विग्घावरणअसाए, तीस अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥
चालीस कसाएसु, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दविलाईण ॥ २९ ॥
दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥ ३० ॥
भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुगंधे ।
वीस कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥
गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥ ३३ ॥
इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥ ३४ ॥
लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥
दो इग मासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥ ३६ ॥
अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥
सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा ।
सगतीसमयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्स पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥
अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीण ॥ ४२ ॥
विगलसुहुमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥
तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥
सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥
उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥
चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥
साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भवियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥
जइलहुबंधो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो ।
एसि अपज्जाण लहू सुहुमेयरअपज्जपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥
तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो ।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साऽइ संकिलेसेण ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ ५२ ॥
सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज्ज हस्सियरो असखगुणो ॥ ५३ ॥
असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजयर सखगुणा, परमपजबिए असखगुणा ॥ ५४ ॥
पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिइमसखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥
तिरिनिरयतिजोयाण, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिग ।
निय नपु इत्थि दुतीस, पणिंदिसु अबधठिइ परमा ॥ ५७ ॥
विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठ ।
पणसीइ सययबधो, पल्लतिग सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥
समयादसखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अतमुहू ।
उरलि असखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥
जलहिसय पणसीय, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे ।
बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरसे ॥ ६० ॥
असुखगइजाइआगिइसघयणाहारनरयजोयदुग ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसाय ॥ ६१ ॥
समयादतमुहुत्त, मणुदुगजिणवइरउरलुवगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥
तिव्वो असुहसुहाण, सकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाइ असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
पुमसजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

निंदुच्चुरसो सहजो, दुविचउभागवड्ढिहाणगओ ।
इगठाणाइ असुहो, असुहाण सुहो सुहाण तु ॥ ६५ ॥
तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ट सुरनिरया ॥ ६६ ॥
विउव्विसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥ ६७ ॥
तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥
थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥
अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥
विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥
तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं ।
आसुहुमायव सम्मो, य सायथिरसुभजसा सिअरा ॥ ७२ ॥
तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥
चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥
सेसम्मि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७ ॥
एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥
इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

अतिमचउफासदुगधपचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणतगुणरसमणुजुत्तमणतयपएस ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढ, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाण ॥ ८० ॥
नियजाइलद्धदलियाणतसो होइ सव्वघाईण ।
बज्झतीण विभज्जइ, सेस सेसाण पइसमय ॥ ८१ ॥
सम्मदरसव्वविरई उ अणविसजोयदसखवगे य ।
मोहसमसतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥
गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥
पलियासखसमुहू, सासणइयरगुण अतर हस्स ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धतो ॥ ८४ ॥
उद्धार अद्ध खित्त, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहियाउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥
दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥
उरलाइसत्तगेण, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबधठाणा य ।
जहतहकममरणेण, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥
अप्पयरपयडिबधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥
मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्ह सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसाय, वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥
सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥
दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥
सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥
चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥
अण दंस नपुंसित्थी, वेय छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥
अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुज्जोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥
छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

मूल पञ्चम कर्मग्रन्थ समाप्त ।

२ पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

अ	पृ०
अण दस नपुंसित्थी	३१३
अण मिच्छ मीस सम्म	३२८
अपढमसघयणागिइ	१५८
अपमाइ हारगदुग	१८८
अप्पयरपयडिबंधी	२८४
अयमुक्कोसो गिंदिसु	१११
अविरयसम्मो तित्थ	१२२
असमत्ततसुक्कोसो	१४६
असुखगइजाइ	१६८
आ	
आहारसत्तगं वा	३७
इ	
इक्किक्कहिया	२१५
इगविगलपुव्वकोडिं	६८
उ	
उक्कोस जहन्नेयर	१३३
उद्धारअद्धखित्त	२६०
उरलाइसत्तगेण	२७३
ए	
एगपएसोगाढ	२१७
एगादहिगे भूउ	६६
एमेव विउव्वाहार	२०८

अ	पृ०
अंतिम चउफासदुगंध	२१७
क	
केवलजुयलावरणा	४२
ख	
खगइतिरिदुग नीय	२१
ग	
गुणसेढीदलरयणा	८३
गुरुकोडिकोडिअंतो	६४
घ	
घणघाइ दुगोयजिणा	२४
च	
चउगणाइ असुहा	१७३
चउतेयवन्न वेयणिय	१६७
चउदस रज्जू लोउ	३०८
चउभेओ अजहन्नो	१३६
चालीस कसाएसु	६०
छ	
छग पुं संजलणा	३२६
ज	
जइलहुबंधो बायर	१४१
जलहिसय पणसीय	१६५

व पृ०
वश्वचउतेयकम्मा ४
विउव्विसुराहारदुग १८३
विगलसुहुमाउगतिग १२८
विगलिअसन्निसु निग्गे १११
विग्घावरण असाए ८६
विग्घावरणे सुहुमो १८६
विग्घावरणे मोहे २२३
विजयाइसु गविज्जे १६२
वीसयरकोडिकोडी ८७
स
सत्तरण नोकसाया ४२
सत्तरससमहिया किर ११६
समयादसखकाल १६३
समयादसमुहुत्त १६८
सम्मदरसव्वविरइ २४४
सव्वाणवि लहुबंधे ११७
सव्वाणवि जिट्ठम्मि १४६
साणाइ अपुव्वते १३८
सायजसुच्चावरणा १३२
सासणमीसेसु धुव ३९
सुमुणी दुन्नि असन्नी २१२
सुरनरतिगुच्चसाय ४७
सुहुमनिगोयाइखण १४६
सेढि असखिज्जसे २००
सेसम्मि दुहा १६०
ह
हासाइजुयलदुग ६

---

३ अनुवाद तथा टिप्पणमें उद्धृत अवतरणोंका अकारादि अनुक्रम

अ	पृ०	पं०
अगहणंतरियाओ	२१४	१३
अट्ठतीस तु लवा	१२०	२१
अट्ठाराणऽणहओ	१३६	२०
अट्ठारसण्ह सवणो	१३७	२०
अणदसनपुंमित्थी	२१३	२३
अणमिच्छमीससम्मं	३२९	२०
अणुपुव्वीण उदओ	५४	१७
अणुमसासत्ते-ना	२१४	६
अणुभागट्ठाणेसु	२७९	२४
अतो थ सास्वादनम-	२८८	११
अधुना गुणश्रेणिस्वरूप	२४९	१९
अद्धाक्षये प-तो	३२८	१९
अद्धा परिवित्तासु	३१७	१८
अन्ने भणंति अविरय	३२२	२५
अन्ये तु व्याचक्षते	२७७	२३
अन्यैस्त्वेवमभिदधति	३२५	१३
अन्यत्राप्युक्त 'उवसत'	३२५	१६
अप्प बधतो बहुमध	६६	२२
अप्पद्धा पुण ताऽ	५१	१८
अप्पतरपगइबंधे	२८५	२४
अमणाणुत्तरगेविज्ज	१५३	२३
अरइरइण उदओ	५७	२१
अवरो भिण्णमुहुत्तो	१७०	१९
अविभाग पलिच्छेदो	३०२	२२
असखाद्धिद्धो उदओ	२	२४
असातो क्रमणा सम्यक्त्व	१८७	१९
अस्मिन्विकल्पित सूक्ष्मे	२६७	२२
अहव दुमो दससाइ	२७१	१५
अहवा दमणमोह	३१७	१३
अट्ठीओ कोड पुल अ	६३	११
अता कोडाकोडी	९६	२०
अतो कोडाकोडा-ग्गिइणनि	९६	२२
आ		
आउस्स भवविवागा	५५	२४
आउस्स य आवाहा	१००	११
आवरणमसव्वग्घं	१७३	२२
आद यदि स्पष्टा	२६१	२४
आहारगतित्थयरा	४०	२१
आहारकशरीर तथा	१२२	१७
आहारकशरीर पोद्ग-	२७४	११
इ		
इगचउ सुहुमियाणं	६५	१९
इंदिय उदए नपुंस	३३३	१८
इह द्विधा स्थिति	९३	२२

इह च 'सचतु पल्यम्' १६६ १५
इह च वहुपु सूत्रादर्शेपु २६४ ११

उ

उक्कोस रमससद्द २३० ५
उक्कडनोगो सण्णी २८६ २३
उत्तञ्च सप्ततिकाचूर्णौ ३२८ ६
उच्चं तित्थ सम्म २४ २३
उदयगवार णराणू ३१८ १९
उदयावलिए उप्पि २५४ २१
उदय वज्जिय इत्थी ३१९ १५
उब्भियदलेक्कसुरव ३०८ १८
उवसामगसेढिगयस्स ३१ १३
उवसमसम्मत्ताओ ३४ २०
उवसमत्तद्धातो पडमाणो ७९ ५
उवरिल्लाओ ट्ठितिउ २४८ १५
उवसम चरियाहिमुहो ३२२ १९
उवसाम उवर्णाया ३२५ १९
उस्सप्पिणिसमएसु २७९ २२
उस्सासा निस्सासो १२० १९
उवसमसेढीदो पुण ३१७ १९

ए

एएहिं सुहुमेहिं खेत्त २७० २१
एएहिं सुहुम उद्धारपलि २६८ २२
एक्काओवि एक्कतीस ८४ ११
एकभवे दुक्खुत्तो ३२७ २४
एके तु आचार्या एव २६५ १८
एक्केक्के पुण वग्गे ३०३ १९
एगपएसोगाढे २२२ २२
एगभवे दुक्खुत्तो २५१ २४
एगादहिगे पढमो ६६ १७
एगा परमाणूण २०६ १८
एगाहिअ बेआहिअ २६५ १४
एगाहिअ वेहिअ २६६ १९
एतस्मिन् सूक्ष्मे २७४ २२
एयक्खेत्तोगाढ २२२ १०
एयावया चेव गणिए २६२ ८
एय पणवन्नं पण्ण ११६ ९
एवमजोग्गा जोग्गा २०६ १८
एसेगिंदियडहरो ११२ १५

ऐ

ऐ आठ प्रकृति सम्यक्त्व १८६ २०

ओ

ओघुक्कोसो सन्निस्स १८६ ११
ओरालियस्स गहणप्पा २०६ २२
ओरालविउव्वाहार २०८ २२
ओरालियवेउव्विय २११ २०

क

कमसो वुड्ढट्ठिइण २२३ १९
कम्मोवरिं धुवेयर २१४ २०
कर्माशय पुण्यापुण्यरूप ८९ २२
कायवाङ्मन १०१ २४
कारणमेव तदन्त्य २१८ ८

कालो परमनिरुद्धो १२० १७
कुणन्ते कम खेमम् ४९ १८
खाडाकोडीभयरोवमाण ९७ १८
क्षेत्रसमास बृहद्वृत्ति २६५ २१

ख

खय उवसमिय विसोही २७ १३
खवग य खीणमोहे २४६ १२
खवगो य खीणमोहो २४७ २१
खीणाइतिगे असत्त २४३ २१
खीणे खवगनियट्टी ३३५ ७

ग

गइ अणुपुब्वि दो दो ३२९ २२
गर्भित्ति सुहुमेयो २७ २०
गुणसढि अपमत्त १२६ १५
गुणसेढी निक्खेवो २४८ २०

घ

घाइयरिहुओ दलियं २५२ २३
घातितिमिच्छ कसाया ६ १९
" " १५ २२
घोसाढइ निंबुवमो १०८ २०

च

चउगइया पज्जता ३१६ २०
" " २५४ ३३
चउतिट्टाण रसाइ १८० ६
चउणोदुरकालादो ३२६ १९
चरिमअपुण्णभवत्थो २९४ २१

छ

छउमत्य कालदुचरिम ३३१ ९
छव्वायीसे चदु इगवीसे ७४ ११
छालिगसेसा पर ७९ ४

ज

जतण कोइव वा ३३ ८
जं बज्झइ तं तु ९६ १७
ज बज्झइ ति भणियं ९७ २३
ज समय जावइयाइ २२८ १६
ज सव्वघातिपत्तं २२८ २०
जदि मरदि सासणो ३२६ २३
जदि सत्तरिस्स एत्तिय ११६ १७
जमिह निकाइयतित्थ ९६ २४
जा अपमत्तो सत्तट्ठ ६१ १९
जा एगिदिजहन्ना १०८ १०
जा ज समेच्च हेउ ५३ १२
जीवस्सज्झवसाया २२१ १९
जुगव सजोगित्ता ३३९ २५
जोगा पयडिपदेसा ३०७ २०
जोगो विरियं थामो १५० २६

ठ

ठिइबंधो दलस्स ठिई ५८ २२
ठिइबधज्झवसाया ३०० २३

ण

णत्थि अण उवसमगे ३२३ १९
णभ चउवीस बारस ७४ १७

णरतिरिया सेसाउं	१२९	१४
णरतिरियक्खणराउग	३२७	४
णिद्दक्खगो तद्दाणे	३३०	२१
णिरयतिरिक्खसुराउग	३३८	२३
त		
तइयकसायाणुदये	४४	२४
तच्चाणुपुव्विसहिया	३३७	२१
तण्हिमोसक्केउं	९७	२०
तत्तो ससाइआ	२०६	२०
तत्तो य दसणतिग	३१९	७
तत्र जघन्यस्थितेरारम्य	१५४	२२
तद्दमत्तिनद्दभाग	३३५	५
तथा चोक्तं शतकचूर्णौ	१२४	१५
तथा चोक्तमागमे	३२४	२१
तथा 'आहारकद्विक'	१२५	१६
तथा च चक्रिपैन्येन	२६७	१८
तम्मि भवे णिव्वाणं	३२८	१०
तसम्मत्तद्धाए	३२६	२१
तिण्णिसया छत्तीसा	११९	२२
तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि	६९	२
तित्थाहारा जुगव	४१	१६
तित्थयराहाराण बधे	३८	२३
तिसु मिच्छत्त नियमा	३५	२२
तिसृभिश्चतसृभिर्वा	२०	१६
तेउदुग तेरिच्छे	९९	२०
तेवट्ठ वण्णचऊ	१७	२१
तेवट्ठि पमत्ते सोग	१२६	१३
द		
दसणमोह तिविह	३३	१५
दसणमोहे वि तहा	२५५	२३
दसणमोहक्खवणा	३३०	१९
दसणमोहक्खवणे	३२५	३
दस वीस एक्कारस	७०	२३
दस सेसाण वीसा	९२	२३
दुविहा विवागओ पुण	५२	१७
देवद्विकस्य तु यद्यपि	११५	२३
देवाउग पमत्तो	१२३	१६
देवा पुण एइंदिय	१२९	१६
देवायुर्बन्धारम्भस्य	१२६	२३
देवेसु देवमणुवे	३३१	१८
देशोनपूर्वकोटिभावना	१६५	१५
दो मास एग अद्धं	१०६	२३
ध		
धुवबंधिधुवोदय	४	१३
न		
नवछच्चउहा वज्झइ	६७	२२
नाणतरायदसण	४	२१
नाणतरायनिद्दा	२९५	२२
निम्माण थिराथिर तय	१६	२२
नियहेउसभवे वि हु	२	२२
निरवक्कमाण छमासा	१०१	२३
प		
पज्जवसाणे सो वा	३२५	२५

कालो परमनिरुद्धो	१२०	१७
कुशल कर्म क्षेमम्	४९	१८
कोडाकोडीअयरोवमाण	९७	१८
क्षेत्रसमास बृहद्वृत्ति	२६५	२३
ख		
खय उवसमिय विसोही	२७	१३
खवगे य खीणमोहे	२४६	१२
खवगो य खीणमोहो	२४७	२१
खीणाइतिगे असंख	२४३	२१
खीणे खवगनियंठे	३३५	७
ग		
गइ अणुपुव्वि दो दो	३२९	२२
गमित्ति सुहुमभेयो	२७	२०
गुणसट्ठि अपमत्ते	१२६	१५
गुणसेढी निक्खवो	२४८	२०
घ		
घाइपडिओ दलियं	३५२	२३
घातित्तिमिच्छ कसाया	६	१९
,, ,,	१५	२२
घोसाडइ निंबुवमो	१७८	२०
च		
चउगइया पज्जत्ता	३१६	२०
,, ,,	११४	३३
चउतिट्ठाण रसाइं	१८०	६
चउण्णोदयकालाओ	३२६	१९
चरिमअपुण्णभवत्थो	२०४	२१
छ		
छउमत्थ कालदुचरिम	३३५	९
छव्वावीसे चउ इगवीसे	७४	११
छासिगमेसा पर	७९	४
ज		
जत्तेण कोद्दव वा	३३	८
ज वज्झइ सं तु	९६	१७
ज वज्झइत्ति भणियं	९७	२२
ज समय जावइयाइं	२२८	१९
ज सव्वघाविपत्तं	२२८	२०
जदि मरदि सासणो	३२६	२३
जद्दि सत्तरिस्स एत्तिय-	११६	१७
जमिह निकाइयतित्थ	९६	२४
जा अपमत्तो सत्तट्ठ	६१	१९
जा एगिंदिजहन्ना	१०८	१०
जा ज समेच्च हेउं	५३	१२
जीवस्सज्झवसाया	२२१	१९
जुगव सजोगित्ता	३३९	२५
जोगा पयडिपदेसा	३०७	२०
जोगो विरियं थामो	१५०	२६
ठ		
ठिइबंधो दलस्स ठिई	५८	२२
ठिइबंधज्झवसाया	३००	२३
ण		
णत्थि अण उवसमगे	३३३	१२
णभ चउवीस बारस	७४	१७

लोगस्स पएसेसु	२७९	२०
व		
वग्गुक्कोसम्हि्ण	११०	१
वालेसु अप्राणि	२६६	२१
वासूए वासुअ घरट्टि-	१४५	१३
वित्याइसु दो घारे	१९	२१
विणिवारिय जा गच्छइ	३	२४
वीयकसायाणुदये	४४	२२
वृद्धास्तु व्याचक्षते	२६८	१९
वेउव्विछक्कि त	११४	१५
वोलीणेसु दोसु	१०१	१७
श		
श्रणे समाप्तौ च	३२६	८
स		
'सअसुम्मुहु'त्ति	१८६	१२
ससारम्मि अडतो	२७३	१९
सत्यमेतत् केवल	१४०	२३
सत्तावीसहिय सय	७३	१५
सपरिसगन्ध	२१७	२४
सम्मत्तस्स सुयस्स य	१९	१९
सम्मत्तदेससपुन्न	२४३	१९
सम्मदुप्पत्तीये	२४६	१०
सम्यग्दृष्टेरथ सप्तम-	४०	७
सयलरसरयगधेहिं	२२२	१५
सव्वट्ठिईणसुक्कसओ	१८७	२४
सव्वाणवि आहार	३७	२२
सव्वाण ग्इि असुभा	१२५	२१
,, ,, ,,	१४६	२४
सव्वावरणं दव्व	२३२	१०
सव्वुक्कोसरसो जो	२२९	२१
सव्वुवसमणा मोहस्सेव	२६	२१
सव्वे वि य अइयारा	४५	२१
सादि अणधुवे	१५	११
साए यारस हारग	११९	१८
सासणमीसे मीस	३७	९
साहारमप्पन्न	३२९	२४
सीदी सट्ठी ताल	१२०	११
सुक्किलसुरभीमहुराण	९१	२३
सुखवेदनीयादिकर्म	८८	१८
सुरनारयाउयाण दस	११९	१५
सुरनारयाउयाणअयरा	१०१	१५
सुहदुक्खणिमित्तादो	२२५	१२
सेढि असखेज्जसो	३००	२१
सेसाण पज्जत्तो	१११	१२
सेसाणुक्कोसाउ	१०८	१३
सेसा त्याइ अधुवा	२९५	२४
सैद्धान्तिकाना तावदेतत्	१५	२०
सोलट्ठेक्किगिछक्क	३३९	१९
सोवक्कमाउया पुण	१०३	१२
ह		
होइ अणाइ अणतो	१०	२०

४ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद तथा टिप्पणी में आगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश[1]

अ

अकुशल कर्म ४९ १७,
अग्रहणवर्गणा २०६ १७,
अगुरुलघु २१९ २३, २२० २२,
अघातिनी ३ ६, ४३ ११,
अजघन्यबन्ध १५८ ११,
अडड २६२ ३, २६२ १५,
अडडाङ्ग २६२ २, २६२ १४
अद्धापल्य २७२ १२,
अद्धापल्योपम २७२ १४,
अद्धासागर २७२ १५,
अध्यवसायस्थान १५६ २३,
अध्रुवबन्धिनी २ ११,
अध्रुवोदया २ १८, २० ७,
अध्रुवसत्ताका ३ १,
अध्रुवबन्ध १५ १७, १३४ १७
अनन्ताणुवर्गणा २०६ १५
अनन्तानन्ताणुवर्गणा २०६ १६
अनादिअनन्त १० १८
अनादिसान्त ११ ८,
अनादिबन्ध १५ १५, १३४ १५,
अनिवृत्तिकरण २८ २,
अनुत्कृष्टबन्ध १३४ ६,
अन्त कोटीकोटी सागर ९५ ११,
अन्तरकरण ३० १८,
अपरावर्तमाना ३ १३,
अपवर्तन ९८ १९,
अपूर्वकरण २८ ९,
अबाधाकाल ९२ १५,
अयुत २६२ ५,
अयुताङ्ग २६२ ५,
अर्थनिपूर २६२ ५,
अर्थनिपूराङ्ग २६२ ५,
अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन २८२ ५,
अल्पतरबन्ध ६४ १९,
अवस्थितबन्ध ६५ ८, ६६ १२,
अवक्तव्यबन्ध ६५ १२, ६६ १५,
अवव २६२ ४,
अववाङ्ग २६२ ३,
अवसर्पिणी २६९ ३, २७१ १७,
अविभागीप्रतिच्छेद ३०१ २४,
असंख्याताणुवर्गणा २०६ १४,

1 इसमें प्राय उन्हीं शब्दोंको स्थान दिया गया है जिनकी परिभाषा अनुवाद या टिप्पणमें दी गई है। प्रत्येक शब्द के आगे का अङ्क पृष्ठ का सूचक है तथा बिन्दु के बाद का अङ्क पंक्ति का सूचक है।

आ
आत्माङ्गुल २६३ २१,
आवली १२० ८,
आहारकयोग्यनवन्यवर्गणा २०९ १५
आहारकयोग्य उत्कृष्टवर्गणा २०० १७,
आहारकशरीर २१२ ४,

उ
उच्छ्वासनिश्वास १२० २२, १२१ १,
उच्छ्वासनिश्वासकाल १२१ ३,
उत्कृष्टबन्ध १३८ ३,
उत्पल २६२ ४,
उत्पलाङ्ग २६२ ४,
उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका २६४ ४,
उत्सधाङ्गुल २६४ २०,
उत्सन्नासन्ना २६४ ६,
उत्सर्पिणी २६१ ३, २७१ १६,
उद्वर्तन ९८ १८,
उद्वलन २५८ २२,
उद्धारपल्य २७१ २१
उद्धारपल्योपमकाल २७१ २३,
उद्धारसागरोपम २७१ २३,
उर्ध्वरेणु २६४ ८,
उपशमश्रेणि ३१४ ३,

ऊ
ऊह २६२ १५,
ऊहाङ्ग २६२ १५,

ए
एकस्थानिक १७१ ४,

औ
औदारिकवर्गणा २०७ ५,
औदारिकशरीर २११ २४,

क
कमल २६२ १३,
कमलाङ्ग २६२ १३
करणलब्धि २७ २,
कर्मवर्गणास्कन्ध २०५ ११,
कर्मयोग्यजघन्यवर्गणा २११ ८,
कर्मयोग्यउत्कृष्टवर्गणा २११ १०,
कर्मशरीर २१२ ८,
कर्मवर्गणा २१७ १०,
कर्मद्रव्यपरिवर्तन २८१ २३,
कालपरिवर्तन २८२ १४
कृतकरण ३३० १०
कुशलकर्म ८९ १६,
कुमुद २६२ १३,
कुमुदाङ्ग २६२ १२,
कोटिकोटि ८८ १,
क्षपकश्रेणि ३२९ १२
क्षुद्रभव १२० ३,१२१ १२,
क्षेत्रपरिवर्तन २८२ ६,
क्षेत्रविपाकी ३ १६,

ग
गव्यूत २६४ २०,
गुणश्रणिरचना २७ २२,
गुणश्रणिनिर्जरा २४४ १६,
गुणश्रेणि २४४ २०, २४८ १२,
२४९ १६, २५३ ५,
गुणहानि ३०४ २०,
गुणाणु २२१ १७,
गुरुलघु २१९ २२, २२० २१,
ग्रन्थि २७ २२,

घ
घटिका १२१ ५,
घातिनी ३ ३, ४३ १०,

च
चतु स्थानिक १७९ ११,
चूलिकाङ्ग २६२ ६,
चूलिका २६२ ६,

ज
जघन्यबन्ध १३४ ९,
जीवविपाका ३ १६,
जीवविपाकिनी ५५ ३,

त
तैजसप्रायोग्यजघन्यवर्गणा २०९ २४,
तैजसप्रायोग्य उत्कृष्टवर्गणा २१० १,
तैजसशरीर २१२ ५,
त्रसरेणु २६४ ९, २६५ ७,

त्रिस्थानिक १७० ८,
त्रुटिताङ्ग २६२ १, २६२ १४,
त्रुटित २६२ २, २६२ १४,
त्रुटिरेणु २६५ ७,

द
देशघातिनी ४४ १७,
द्रव्यपरिवर्तन २८२ ८,
द्विस्थानिक १७९ ६,

ध
धनुष २६४ २२,
ध्रुवबन्धिनी २ ८, ५ १,
ध्रुवसत्ताका २ १९,
ध्रुवबन्ध १५ १६, १३४ १६,
ध्रुवोदया २ १४,

न
नयुत २६२ ६,
नयुताङ्ग २६२ ५,
नलिन २६२ ४, २६२ १२,
नलिनाङ्ग २६२ ४, २६२ १२,
नाली १२० २५, १२१ ५,
निकाचित ९८ १७,
निरुपक्रम आयु ९९ २,
नोकर्मद्रव्य परिवर्तन २८१ १५,

प
पद्म २६२ ४, २६२ १२,
पद्माङ्ग २६२ ४, २६२ १२,

परमाणु २२० १,
परावर्तमाता ३ १०,
पल्योपम २९२ ११,
पाद २६४ २१,
पापप्रकृति ३ ९, ४८ १०, ४९ १८,
पुण्यप्रकृति ३ ८, ४८ ९, ४९ १७,
पुद्गलविपाकी ३ २३,
पुद्गल २१७ २२,
पुद्गलपरावर्त २७२ ८,
पुद्गलपरिवर्तन २८२ ४,
पूर्व ९९ १५, २६२ १,
पूर्वांग २६१ २०,
प्रकृतिबन्ध ५८ ११,
प्रत्र २०८ ११, २१२ ३,
प्रदेशबन्ध ५० ४, २०५ ११,
प्रदेश २०५ ७,
प्रमत्तसंयत २६४ २४, २६५ १२,
प्रयुत २६२ ५,
प्रयुतांग २६२ ५,
प्रस्थ १७० २३,

ब

बन्ध ५८९,
बन्धस्थान ६१ २,
बादर उद्धारपल्योपम २६७ ५,
बादर उद्धारसागरोपम २६७ ६,
बादर अद्धापल्योपम २६८ १२
बादर अद्धासागरोपम २६८ १२,
बादर क्षेत्र पल्योपम २६९ १०,
बादर क्षेत्र सागरोपम २६९ १३,
बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त २७३ १०
२२, २७४ ७, २७५ ६,
बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त २७६ २ २०,
बादर कालपुद्गलपरावर्त २७६ ४,
२७७ १८,
बादर भा पुद्गलपरावर्त २७६ ७,
२७८ १८,

भ

भवविपाकी ३ २१,
भवपरिवर्तन २८३ १,
भावपरिवर्तन २८३ २०,
भावपरमाणु २०१ २८,
भाषाणु २२१ १७,
भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा २१० १०,
भाषाप्रायोग्य उत्कृष्टवर्गणा २१० १२,
भूयस्कारबन्ध ६२ ८, ६६ ५,

म

मनोद्रव्यप्रायोग्यजघन्यवर्गणा २१० २५
मनोद्रव्यप्रायोग्यउत्कृष्टवर्गणा २११ १,
महाकमलांग २६१ २५,
महाकमल २६१ २८
महानलिन २६२ १०,
महानलिनांग २६२ १२,

महापद्म २६२ १३,
महापद्माङ्ग २६२ १२,
महाकमल २६२ १३,
महाकमलाङ्ग २६२ १२,
महाकुमुद २६२ १४,
महाकुमुदाङ्ग २६२ १३,
महात्रुटित २६२ १४,
महात्रुटिताङ्ग २६२ १४,
महाअडड २६२ १५,
महाअडडाङ्ग २६२ १५,
महाऊह २६२ १५,
महाऊहांग २६२ १५
मिथ्यात्वमोहनीय ३३ ३, ३३ २५,
मिश्रमोहनीय ३३ २४
मुहूर्त १२० २५, १२१ ६,

य

यथाप्रवृत्तकरण २८ ४,
यवमध्यभाग २६४ २०,
यूका २६४ १९,
योग १५१ १३,
योगस्थान ३०२ १९ ३०८ २१
योजन २६४ २३

र

रथरेणु २६४ ९, २६५ ८,
रसबन्ध ५९ ३, १७० ९,
रसाणु २२० २,

ल

लताङ्ग २६१ २४,
लता २६१ २४,
लव १२० २४, १२१ ४,
लीख २६४ १९,

व

वर्ग ३०८ १९,
वर्गणा ४०६ ९, ३०४ २०,
वितस्ति २६४ २१,
विपाक ५२ ६,
वीर्य परमाणु ३०१ २३,
वैक्रिय योग्य जघन्य वर्गणा २०९ १
वैक्रिययोग्य उत्कृष्टवर्गणा २०९ ६,
वैक्रियशरीर २१२ १,
व्यवहारपरमाणु २६३ २५,
व्यवहारपल्योपम काल २७१ १८
व्यवहारपल्य २७१ १६,

श

शीर्षप्रहेलिकाङ्ग २६२ ६, २६२ १६
शीर्षप्रहेलिका २६२ ६, २६२ १६,
श्रेणि ३०८ ११, ३१२ १,
श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका २६४ ५,
श्वासोच्छ्वासकाल १२१ ३,
श्वासोच्छ्वासयोग्य जघन्यवर्गणा २१० १८
श्वासोच्छ्वासयोग्यउत्कृष्टवर्गणा २१० २०,

स

सख्याताणुवर्गणा २०६ १४,
सज्ञासज्ञा २६५ ६,
सम्यक्त्वमोहनाय ३३ २ २३,
सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय ३३ ३,
सर्वघातिनी ४३ १३,
सादि अनन्त ११ ७,
सादिसान्त ११ १०,
सादिबन्ध १५ १३, १३४ १४,
सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३४ २५,
सूक्ष्म उद्धारपल्योपम २६८ ५,
सूक्ष्म उद्धारसागरोपम २६८ ६
सूक्ष्म अद्धापल्योपम २६८ १५,
सूक्ष्म अद्धासागरोपम २६९ २,
सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम २७० ३,
सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम २७० ४,
सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त २७३ १२
२४, २७४ १२, २७ ९,
सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त २७६ १०,
सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त २७६ १०,
२७७ २२, २७८ १३,
सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त २७६ ११,
२७८ २२,
स्तोक १२० २४, १२१ ४,
स्थितिस्थान १५८ ४,
स्थितिबन्ध ५८ १,
स्पर्द्धक ३०२ ५, ३०४ २०,

ह

हाथ २६४ २२,
हुहुअङ्ग २६२ ४,
हुहु २६२ ४,

५ पञ्चमकर्मग्रन्थकी गाथाओंमें आये हुए पिण्डप्रकृतिके सूचक शब्दोंका कोश

शब्द	गाथा	शब्द	गाथा
आकृतित्रिक	८	दुभगत्रिक	५६
आयुत्रिक	४३	दो युगल	८,६१,९२
आवरण	२,८५,९९	नरत्रिक	१५
आहारकसप्तक	९	नरकत्रिक	१६,५६,६६,९३
आहारकद्विक	६१,६७,७०,९२	नरकद्विक	४३,६१,९९
उच्छ्वासचतुष्क	८	पराघातसप्तक	१५
उद्योतत्रिक	२१	प्रत्येक अष्टक	१४
उद्योतद्विक	६१	मनुष्यद्विक	९,६२,६८,७३
औदारिकसप्तक	८	वर्ण	१४
औदारिकद्विक	४४ ६८	वर्णचतुष्क	२,६,१५,१७,६७,७३
खगतिद्विक	९	वर्णादिबीस	८
गोत्रद्विक	१४,२०	विकलत्रिक	४३,५६,६६,७१,९९
जातित्रिक	२०	वेदत्रिक	८
तनुअष्टक	१४,१९	वैक्रियएकादश	९
तनुचतुष्क	२१	वैक्रियद्विक	४३,६७,९१,९३
तिर्यग्द्विक	९,१६,४४,६६,७२,९९	वैक्रियषट्क	४५,७१
तिर्यंत्रिक	५६	सुभगचतुष्क	२०
तैजसकामणसप्तक	८	सुभगत्रिक	६०,७३,९१
तैजसचतुष्क	६७,७३	सुरत्रिक	१५,९१
त्रसादिबीस	३,८,१४,१९	सुरद्विक	४३ ६७,९३
त्रसदशक	१५,६७	सूक्ष्मत्रिक	४३,६६,७१
त्रसत्रिक	२०	स्त्यानर्द्धित्रिक	५६,६१,९९
त्रसचतुष्क	६०,७३	स्थावरदशक	१७,६१
दुभगचतुष्क	२०	स्थावरचतुष्क	५६

[1] पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा सङ्केतविवरण

अनुयोग० सू०
अनुयोग० } अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति सूरत।

अनुयोगद्वार टीका—आगमोदयसमिति सूरत।

अभिधर्म०—अभिधर्मकोश, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

अभिधर्म० व्या०
अभि०व्या० } अभिधर्मकोशव्याख्या, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदयसमिति सूरत।

आव० नि० टी०—आवश्यकनिर्युक्ति मलयटीका, आगमोदयसमिति।

कर्मप्रकृति (चूर्णि सहित)—
कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीका
कर्मप्रकृति मलय० टी०—कर्मप्रकृति की मलयगिरि टीका } मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई गुजरात

कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

कालोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

क्षपणासार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

गो० कर्मकाण्ड
कर्मकाण्ड } —गोमटसार कर्मकाण्ड, रायचंद जैन शास्त्रमाला बम्बई।

---

[1] अनुवाद आदिमें जहां कहीं केवल कर्मग्रन्थ लिखा है, वहां पञ्चम कर्मग्रन्थ ही समझना चाहिये।

पञ्चम कर्मग्रन्थ

गोमट्टसार जीवकाण्ड }
जीवकाण्ड } रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई।

गीतारहस्य—चित्रशाला स्टीम प्रेस पूना।

छठा कर्मग्रन्थ—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—राय धनपतसिंह बहादुर द्वारा प्रकाशित।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का स० टीका— ” ”

ज्योतिष०—ज्योतिष्करण्डक, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे० स० रतलाम द्वारा प्रकाशित पत्रादाकादि दुर्गशास्त्रान्तर्गत।

तत्त्वार्थसूत्र—श्री आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ट्रस्ट बम्बई।

त० राजवार्तिक }
राजवार्तिक } तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्री जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

तत्त्वार्थभाष्य—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, आर्हतप्रभाकर कार्यालय पूना।

त्रिलोकसार—श्रीमाणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमाला बम्बई।

द्रव्यलोक०—द्रव्यलोक प्रकाश, देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

द्वितीय कर्मग्रन्थ—'सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

न्यायादि अकाराद्यनुक्रमणिका—आगमोदय समिति सूरत।

न्या० मञ्ज०—न्यायमञ्जरी, विजयानगर सिरीज काशी।

पञ्चस०—पञ्चसंग्रह मूल, श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दशशास्त्रान्तर्गत।

पञ्चस०—पञ्चसंग्रह सटीक दो भाग, मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर ...

पञ्चमकर्मग्रन्थका टवा—प्रकरण रत्नाकर के चतुर्थभाग के अन्तर्गत।

पञ्चम कर्म० स्वोपज्ञटी०
पञ्च० क म० टी०
प० कर्म० } पञ्चमकर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

पञ्चमकर्मग्रन्थका गुजराती अनुवाद—जैन श्रेयस्कर मण्डल म्हेसाणा।

पञ्चाशक—श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दस शास्त्रान्तगत।

पञ्चास्ति०—पञ्चास्तिकाय, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई।

प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्रीभीमसी माणक बम्बई।

प्र० कर्मग्र०—प्रथमकर्मग्रन्थ, 'टीकात्रयवार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत, भावनगर।

प्रवचनसा०
प्रवचन० } प्रवचनसारोद्धार, देवचन्द लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

प्रवचन० टी०—प्रवचनसारोद्धार की टीका, देवचन्द लालभाइ सूरत।

प्रवचनसार अमृत० टी०—प्रवचनसार की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका, रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद भाष्य, विजयानगर सिरीज काशी।

प्रशस्त० कन्दली०—प्रशस्तपाद भाष्य की कन्दली टीका, विजयानगर सिरीज काशी।

ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र, निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

भगवद्गीता—भगवद्गीता निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

मिलिन्दप्रश्न—महाबोधि सोसयटी सारनाथ, बनारस।

योगद०—योगदर्शन, व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी और भास्वती आदि टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस।

लब्धिसार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

लो० प्र०—लोकप्रकाश, देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धारसंस्था सूरत।

विशे० भा० } —विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्य प्रणीत टीका सहित, श्वेताम्बरसंस्था रतलाम।
विशेषा० भा० }
विशे० } ,, बृहद्वृत्ति सहित, यशोविजय ग्रन्थमाला काशी

विशेषणवती—श्वेताम्बर संस्था रतलामद्वारा प्रकाशित।

बृहत्कर्म० भा०—बृहत्कर्मस्तव भाष्य।

संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरिरचित)—प्रकरणरत्नाकरके चतुर्थभागके अन्तर्गत।

सटी० च० कर्म०—सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था, श्री आत्मानन्द सभा भावनगर।

समयप्राभृत—काशीस्थ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था।

सर्वार्थसिद्धि—जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

सांख्यकारिका—चौखम्बा काशी।

माठ० वृ०—सांख्यकारिका की माठरवृत्ति, चौखम्बा काशी।

शुद्धिपत्र

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१७	२१	सुहमस्य	सुहुमस्स
२१	१८	उद्योग	उद्योत
४०	७	आनश्यकचूणि	आनश्यकनिर्युक्ति
५४	१५	भवविपाकी	क्षेत्रविपाकी
५९	२५	पञ्च० स	पञ्चस०
९६	१०	पञ्चन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
१०८	१५	उतरार्द्ध	उत्तरार्द्ध
१२०	२३	उच्छ्वास	उच्छ्‌वास
१७३	२२	सव्वग्ध	सव्वग्घ
२०६	५	वर्णणाएँ	वर्गणाएँ
२२	१५	रुप	रव
२४३	१९	सपुत्र	मपुत्र
२७२	१३	अद्धापल्योपम	अद्धापल्य
३०७	२३	बन्च	बन्ध
३२१	१४	मभिन्धति	मभिदधति
३६८	६	प्रज्ञप्ति का	प्रज्ञप्तिकी

हिन्दी व्याख्यासहित
पञ्चमकर्मग्रन्थ
समाप्त

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशन मुहल्ला, आगरा से
प्रकाशित पुस्तकों की सूची

१ सामायिक और देव वन्दन सूत्र विधि	-)
२ देवसि राई प्रतिक्रमण—मूल	।)
३ जीव विचार—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	।-)
४ नवतत्व—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	।-)
५ दण्डक—हिन्दी भावार्थ अनु० पं० सुखलालजी	।)
६ कर्मग्रन्थ पहला—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।।)
७ कर्मग्रन्थ दूसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।।)
८ कर्मग्रन्थ तीसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	।।)
९ कर्मग्रन्थ चौथा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	२)
१० योग दर्शन तथा योग विंशिका—न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी उपाध्याय कृत तथा वर्णित-हिन्दी अनुवाद सहित।	१।।)
११ दर्शन और अनेकान्तवाद—कर्त्ता पं० हंसराजजी शर्मा शास्त्री, इसमें जैनधर्म का अन्य दर्शनों के साथ मेल मिलाया है।	।।)

१२ पुराण और जैनधर्म—लेखक प० हंसराजजी शास्त्री ।||)

१३ भक्तामर कल्याण मन्दिर स्तोत्र—हिन्दी अनुवाद सहित मूल तथा हिन्दी =)||

१४ वीतराग स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक प० चूनलालजी =)

१५ अजित शान्ति स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक मुनि श्री माणिक्य विजय जी।)||

१६ श्री उत्तराध्ययन सूत्र सार—लेखक मुनि श्री माणिक्य विजय जी। =)

१७ बारह व्रत की टीप—लेखक मुनि श्री दर्शनविजय जी ≡)

१८ जिन कल्याणक सग्रह—इसमें २४ भगवान् के कल्याणक कहाँ और कब हुये सब बतलाया है। -)

१९ ज्ञान थापने की विधि—ज्ञान पचमी के तप करनेवालों को यह पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये। ≡)

२० भजन पचासा—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें कुरीति सुधार के ऊपर बड़े मनोहर गायन हैं। -)||

२१ भजन मजूषा—कर्त्ता सेठ ऋषभदासजी नाहटा सिकन्दराबाद, इसमें नवीन राग रागनी स्तवन के हैं।)||

२२ हिन्दी जैन शिक्षा भाग १—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है)||

२३ हिन्दी जैन शिक्षा भाग २—लेखक धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य

२४ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ३**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, बच्चों को पढ़ाने के लिये सर्वोत्तम पुस्तक है। -)॥

२५ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ४**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घाया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। =)

२६ **कलियुगियों की कुलदेवी**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें वेश्या नृत्य का खण्डन है।)॥

२७ **सदाचार रक्षा, प्रथम भाग**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करनेवाली ५४ कुरीतियों का खण्डन किया गया है, यदि गृहस्थ अपनी सन्तान को सदाचारी बनाना चाहें तो इसे अवश्य पढ़ें और इन कुरीतियों से बचावें तो शर्त्तिया सन्तान सदाचारी बन सकती है। ।-)

२८ **प्राचीन कविता संग्रह**—सेठ जवाहरलालजी नाहटा द्वारा संग्रहीत, इसमें शत्रुञ्जय का रास, गौतम स्वामी का रास, हो रानी पद्मावती, पुण्य प्रकाश स्तवन, श्रावक की करणी, महावीर स्वामी का पारणादि अनेक प्राचीन कवितायें हैं। ।=)

२९ **देव परीक्षा**— -)॥

३० **विमल विनोद**—कर्त्ता मुनि श्री विमल विजयजी, इसमें विधवा विवाह का खण्डन उपन्यास के ढंग पर किया गया है और आर्य्य समाज के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सरलता से किया गया है। ॥=)